

बौद्धदर्शन और मार्क्सवाद



बौद्धदर्शनविभाग, श्रमणविद्यासंकाय

र्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

ER JUBILEE-SERIES

[Vol. III]

BAUDDHA DARŚANA AURA MĀRKSAVĀDA

[Buddhism And Marxism]



Department of Bauddha-Darśana, Faculty of Śramaṇavidyā

Sampurnanand Sanskrit University

VARANASI

1985

Published by :—

Director, Research Institute,
Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya,
Varanasi.

Available at :—

Sales Department,

Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221002

First Edition—500 Copies

Price Rs. 22-00

Printed by—
Ghan Shyam Upadhyaya
Manager,
Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya Press
Varanasi.

विश्वविद्यालय-रजतजयन्ती-ग्रन्थमाला

[तृतीय पुष्प]

बौद्धदर्शन और मार्क्सवाद



बौद्धदर्शनविभाग, श्रमणविद्यासंकाय

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

१९८५

प्रकाशकः—
निदेशक, अनुसन्धान-संस्थान
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय,
वाराणसी।

प्राप्तिस्थानम्—
विक्रय-विभाग,
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय
वाराणसी २२१००२.

प्रथम संस्करण, ५०० प्रतियाँ
मूल्य :---२२= ० रूपये

मुद्रकः--
घनश्याम उपाध्याय
व्यवस्थापक,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय-मुद्रणालय
वाराणसी।

प्राक्कथन

अखिल भारतीय परिसंवाद गोष्ठी से पूर्व 'बौद्धदर्शन और मार्क्सवाद' शीर्षक यह लघु पुस्तिका विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। इसमें कतिपय विशिष्ट विद्वानों के पाण्डित्यपूर्ण लेख हैं। लघुकाय होते हुए भी मौलिकता, प्रामाणिकता और गुणवत्ता की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हो गया है।

भगवान् बुद्ध तत्त्वद्रष्टा ऋषि थे। उन्होंने जिस तत्त्व का साक्षात्कार किया था, वह पूर्ववर्ती मनीषियों द्वारा सर्वथा अज्ञात था। कार्ल मार्क्स भी आधुनिक युग के ऋषि हैं। उन्होंने ऐतिहासिक विकास की जो आर्थिक एवं वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की, उस ओर पहले किसी का भी ध्यान नहीं गया था। यद्यपि भगवान् बुद्ध अध्यात्मप्रधान धर्म के प्रवर्तक हैं और मार्क्स ने जगत् की नितान्त भौतिकवादी व्याख्या की है तथा इस प्रकार इन दोनों महापुरुषों में मौलिक भेद है, फिर भी दोनों ने व्यापक मानवीय दुःख का अनुभव किया, उसके कारणों की खोज की और अपनी-अपनी दृष्टि से उसके निवारण के उपाय सुझाए। दोनों का विश्वास था कि इस दुःख से मुक्ति सम्भव है।

भगवान् बुद्ध के अनुसार सभी वस्तुएं अनित्य, अनात्म एवं दुःख हैं। उनके मत में जो अनित्य नहीं है, वह वस्तु ही नहीं है। उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाना अनित्यता का अर्थ है। यही उनकी क्षणिकता है। जड और चेतन समस्त जगत् क्षणिक वस्तुओं का निरन्तर प्रवाहमात्र है। मार्क्स भी समस्त पदार्थों को गति में निरन्तर परिवर्तनशील मानते हैं। इस प्रकार दोनों मनीषियों का दर्शन गतिशील है। इसे बुद्ध ने 'प्रतीत्यसमुत्पाद' शब्द द्वारा तथा मार्क्स ने 'द्वन्द्ववाद' शब्द द्वारा अभिव्यक्त किया है। इस प्रकार दोनों ने ही नित्य पदार्थों की सम्भावना का निषेध किया है।

बुद्ध ने अपने समय में, जिस स्थापित व्यवस्था का विरोध किया था, उसके अन्तर्गत सामान्य जनता अनेकविध मानवीय लाभों से वंचित थी।

उन्होंने उन सभी मिथ्या दृष्टियों का भी निषेध किया था, जो मानव मानव में भेद पैदा कर युद्ध, कलह एवं अशान्ति का कारण थीं, जैसे—क्षेत्रवाद, भाषावाद, वर्णवाद तथा अपने ही मन्तव्य के प्रति सत्याभिनिवेश आदि। इतने वर्षों के बाद आज भी प्रायः वे ही या उनसे मिलती-जुलती समस्याएं मानव के दुःखों का कारण हैं। मार्क्स ने भी प्रायः इन सभी मानवीय बाधाओं के विरोध में आवाज उठाई। यही कारण था कि पीडित मानव बड़ी संख्या में भगवान् बुद्ध के अनुयायी बने और आज मार्क्स भी जनता को आकृष्ट कर रहे हैं।

भगवान् बुद्ध ने धर्मचक्रप्रवर्तन के द्वारा एक सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवीय आन्दोलन का प्रवर्तन किया था और मार्क्सवाद एवं उसका प्रयोग भी एक प्रकार का सांस्कृतिक एवं मानवीय आन्दोलन है। इस विषय में विद्वानों में कुछ मतभेद हो सकते हैं। हमारे विचार में अहिंसा को लेकर भी दोनों में अत्यधिक अन्तर है। बुद्ध किसी भी स्थिति में हिंसा को धर्म नहीं कह सकते, जबकि मार्क्स की दृष्टि में हिंसा सर्वथा त्याज्य नहीं है।

भगवान् बुद्ध ने जिस प्रतीत्यसमुत्पाद का दर्शन प्रस्तुत किया, वह अत्यन्त व्यापक एवं गम्भीर है। वह मानव जीवन के सभी पक्षों का स्पर्श करता है। मार्क्सवाद इस दृष्टि से बौद्धदर्शन के समक्ष फीका सा प्रतीत होता है। आधुनिक विज्ञान गतिशीलता और सापेक्षता के सिद्धान्त को अंगीकार करता है। प्रतीत्यसमुत्पाद और मध्यम मार्ग से भी ये सिद्धान्त प्रतिफलित होते हैं। इसीलिए कुछ विद्वान् कहते हैं कि वैज्ञानिक सिद्धान्तों से अधिक नजदीक यदि कोई धर्म है तो वह बौद्ध धर्म है और इस स्थिति में वैज्ञानिकों का यदि कोई धर्म हो सकता है तो वह बौद्ध धर्म ही है।

विश्वविद्यालय के बौद्धदर्शन विभाग ने 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' के आर्थिक सहायता से "बौद्धदर्शन और मार्क्सवाद" जैसे समस्यापूर्ण विषय पर अखिल भारतीय परिसंवाद गोष्ठी का आयोजन करके सराहनीय कार्य किया है। आशा है विद्वान् विचार-विमर्श द्वारा मानव जाति का भावी मार्ग आलोकित करने में सहयोग करेंगे। यह वर्तमान परिप्रेक्ष्य में बड़ी उपलब्धि होगी।

१ फरवरी, १९८५

रामकरण शर्मा
कुलपति

विषय-सूचो

बौद्धदर्शन और मार्क्सवाद

तथागताराधनमेतदेव
स्वार्थस्य संसाधनमेतदेव ।
लोकस्य दुःखापहमेतदेव
तस्मान्ममास्तु व्रतमेतदेव ॥

(बोधिचर्यावतारः ६:१२७)

शिरसि विनिहितोच्चसत्त्वभारः
शिथिलगतिर्न हि शोभतेऽग्रसत्त्वः ।
स्वपरविविधबन्धनातिबद्धः
शतगुणमुत्सहमर्हति प्रकर्तुम् ॥

(महायानसूत्रालङ्कार)

बुद्धमार्क्सयोर्वादसाम्यम्

महापण्डितराहुलसांकृत्यायनः

बुद्धो मार्क्सात् चतुर्विंशतिशताब्दिपूर्वं जातः। तयोः कालयोर्महदन्तरम्, विचारयोरपि भवेदिति नैतच्चित्रम्। बुद्धो धर्मस्य प्रतिष्ठापकः। तस्य धर्मः क्रैस्तवे षष्ठशतके सम्पूर्णेऽप्यबर्बरे जगति व्याप्तः, तत्रत्यानां जनानां श्रद्धाभाजनं चाभूत्। अद्यापि धर्मेषु तत्पथपथिका भूयांसो जगति। इदानींतनेषु विद्यानिष्णातेषु जनेषु धर्मविषयिकैकान्तनिष्ठा न संभाव्या, अथापि महति बुद्धे सत्कृतिर्भूयसां मनुसन्ततीनामित्यत्र न कस्यापि विसंवादः। बुद्धो योगमार्गपरायणः परलोके आस्थावान्, मार्क्सस्य पन्थास्ततो विप्रतीपः।

सत्स्वपि भेदेष्वनेकत्र तयोरद्भुतं साम्यमनेकेषु विषयेषु। मार्क्सो मनुसन्ततौ सामाजिकमार्थिकं भेदमनिष्टकरममन्यत, तद्विध्वंसन एव स आजीवनं बद्धपरिकर आसीत्। तदर्थं तेन महत् कष्टमनुभूतम्। जन्मभूमितो निर्वासितः स्थानात् स्थाने यायावर इवाभ्रमत्। न स परिहृतगृहः परिव्राजकः, पत्न्याः सन्ततीनां च भारमुद्वहता तेनाकिञ्चन्यं तद्भाविनी वेदना च शिरसि सादरं धृता। बुद्धोऽपि सामाजिकं भेदभावं निरपवादमार्थिकं वैषम्यं च सापवादं निरसितुं प्रवृत्तः। वर्षाया मासत्रयं विहाय सर्वोऽपि तस्य कालः व्रज्यायामयात्। पश्चिमस्यां स्थाण्वीश्वरनिगमं प्रस्थाय पूर्वस्यां विहारप्राक्सीमान्तं यावत्, उत्तरस्यां हिमवतो दक्षिणस्यां यावद् विन्ध्यगिरिं तस्य विचरणक्षेत्रम्। तत्र पर्यटता तेन स्वीयः सन्देशः प्रसारितः। तस्य देशना सरला, हृदयंगमा, मनोहरा, आचरणं व्यक्तित्वं च तदनुरूपम्। तुल्यकालीनाः पण्डिताः सामान्याश्च जनाः सकृत् सम्पर्केण तं मार्गदेष्टारं स्वीचक्रुः। जीवत एव तस्य समीपे तक्षशिला-शूर्पारकादिभ्यः प्रत्यन्तस्थानेभ्यो मेधाविनः समागत्य तस्यान्तेवासित्वमूरीचक्रुः। अशीतिवर्षायुषस्तस्य परिनिर्वृतिकाले सर्वस्मिन्नप्यभिज्ञातभारते तथागतशासनं व्यतनुत।

मार्क्सः क्रैस्तवे १८१८ संवत्सरे जर्मनदेशस्य ट्रीटनगरे जातः, पञ्चविंशति-वर्षवयस्कः (क्रैस्तवे १८४३ संवत्सरे) स्वदेशतो निर्वासितः पेरिस-ब्रुशेल्सादि-नगरेषु स्तोकं विश्रान्तः क्रैस्तवे १८४९ संवत्सरे लन्दनं गतः। ततो यावन्मरणं तत्रैव तस्य भूयान् निवासः। क्रैस्तवे १८८३ संवत्सरे तत्रैव तस्य जीवनलीला-संवरणं पञ्चषष्टिवर्षायुषि। अतितारुण्य एव मानवसमताप्रसारणे तेन प्रयति-तुमारब्धम्, तत्कार्यं च मृत्युपरवशतयैव परिहृतम्। जीवनकाल एव तस्य विचारा अखिलेऽपि भूमण्डले पर्यवर्धन्त। जीवनान्ताच्चतुस्त्रिंशद्वर्षोनन्तरं तस्य कल्पना वसुन्धरायां समवतीर्णा। महति रूसदेशे साम्यवादशासनं प्रवृत्तम्।

मानवसाम्यं बुद्धमार्क्सयोरासीत् समभिप्रेतम्। प्रतिजनं प्रतिभावैषम्यं भवितुमर्हति। एकस्मिन् गृहे पित्रोरेकत्वेऽपि बुद्धिविषमता दृश्यत एव। अथाप्येतस्मात् कारणान्न जातु तेषु हीनोत्तमभावः समाचर्यते। तेषां सहोदरत्वम्, बन्धुत्वम्, स्नेहभोगभागित्वं च समानमेवाद्रियते। मार्क्सेन निरपवादमिद-माचरणीयमिति गदितम्। बुद्धस्यापीदमेवासीद् मनीषितम्। अथापि नैतद् व्यवहारसहमिति विज्ञाय तेन मानवसंवस्यैकस्मिन्नंशे स्वीये भिक्षुभिक्षुणीसंघ एव भोगसाम्यमाचरणीयमिति विहितम्। साम्याधारितमानवजीवनस्य माधुर्यं निरीक्ष्य जनाः स्वत एव तत्परायणा भवेयुरित्यासीत् तस्य आशा ननु। बुद्धस्य समये यदसंभवि मार्क्सस्य समये तन्नितरां संभवीति ज्ञात्वैव मार्क्सेन सर्वस्यामपि नृजातावार्थिकसाम्यस्य देशना प्रारब्धा। मार्क्सकाले यन्त्राणां प्राबल्यं बाहुल्यं च जगति। देशे-देशे धातुपटादीनां महान्तो यन्त्रालयाः स्थापिताः, अहर्निशं तेषु सहस्रशो लक्षशोऽपि कर्मकरा एकत्र कार्ये प्रवृत्ताः। स्वग्रामं स्वगेहं च विहायेमे मानवा यन्त्रालयैकशरणा अभूवन्। चलति यन्त्रालये तेषामुदरपीडा शाम्यति, निवृत्तकार्ये च तेऽशनवञ्चिता यमैकशरणा अजायन्त। "बुभुक्षितः किं न करोति पापम्"। पुरा मानवोपयोगीनि खाद्यपेयपरिधेयादीनि वस्तूनि दुर्लभकल्पान्यासन्। यन्त्रयुगे तु कालान्तजलप्लावनमिव तैर्जगत्प्लावितम्। काले काले क्रेतृणां दौर्लभ्याद् वस्तूनि स्ववेश्मस्वेव रुद्धानि, एवं कर्मकराणां कार्यविरहताकारणानि भवन्ति। विगतकृत्या विगताशनाः कर्मकरास्तूष्णीं कथं आस्थातुमर्हाः? पुरा शिल्पिनो गृहे-गृहे ग्रामे-ग्रामे विकीर्णाः, एकीभूय किमपि कर्तुं नालम्। इदानीं त्वेकस्मिन् नगरेऽपि लक्षशस्ते संचिताः। संघबलं परमं बलम्, तच्च तेषां हस्तगतम्। मार्क्सेन संदृष्टमिदं बलम्। एतेन बलेन मानव-साम्यं स्थापयितुं शक्यम्, एतेनैव कर्मकराणां बुभुक्षासंकटमप्यपास्तं भवेत्। यन्त्रालयानां तत्रस्थानां लक्षलक्षकर्मकराणां च भाग्यमेकस्य पुरुषस्याधीनम्।

स चाधिकाधिकं लाभं कामयमानः चालयति यन्त्रम्। सति लाभे वस्तुसमाप्लावः, अलाभे कार्यनिरोधः कर्मकराणां च निष्क्रियताऽवश्यंभाविनी।

बुद्धकाले नासीदेतादृशी सामाजिकी आर्थिकी च स्थितिः। अत एव तेनैकाङ्गीनः साम्यवादः—केवलं भोगे न कार्ये—समादिष्टः। मार्क्सेन तु भोगे कार्ये चोभयत्र साम्यमपेक्षितम्। एवं न केवलं साम्यवादसिद्धान्त एव तेन समर्थितः, तस्य निष्पत्त्युपायोऽपि। श्रेष्ठिवर्गस्य हस्तेऽमोघाऽनियन्त्रिता सृष्टिसंहारकारिणी शक्तिर्मानवतायाः संहारायैव भवेत्। सा तु राष्ट्रायत्ता करणीया। तच्च सर्वथा समुचितं संभाव्यं च। बुद्धेन मानवानां स्वाभाविकं हृदयकौमल्यं विज्ञाय तत्साहाय्येन नृषु साम्यं स्थापयितुं चिकीर्षितम्। केषाञ्चिद् हृदयं परिवर्तितं भवेदपि, परं तेन सर्वस्य श्रेष्ठिवर्गस्य हृदयपरिवृत्तिर्न जातु संभवति। एवं बुद्धेनाऽऽदत्तमस्त्रमतिनिर्बलं सिद्धमभूत्। मार्क्सेन तु कर्मकरनिचयभूतमस्त्रं स्वीकृतम्, तच्चामोघमिति सर्वप्रत्यक्षम्। यावदुदरं रिक्तम्, यावद् बुभुक्षामरणं शिरसि निषण्णम्, तावत् कर्मकरसंघः कथं संघर्षतो विरमेत? कर्मकराः सर्वान्त एव स्वचेष्टाफलं लभेरन्निति नासीद् दृष्टचरम्। प्रतिसंघर्षं कृतस्य दक्षिणा हस्तगताऽभूत्। श्रेष्ठिनः स्वकर्मकराणां संघबद्धं संघर्षं सोढुमसमर्थाः, आंशिकं तेषामभीष्टं स्वीकर्तुं परवशा अभूवन्। दक्षिणया कर्मकराणां हृदि स्वकृत्यं प्रति श्रद्धा सन्निविष्टा। संघर्षो भूयोऽप्यवर्धत। दक्षिणाश्रद्धयोर्मात्रापि तदनुक्रममैधत। अन्ते चेतश्चत्वारिंशद्वर्षतः पूर्वं पृथिव्याः षष्ठो भागो मार्क्सप्रवर्तिते साम्यवादे दीक्षितः।

सत्यपि क्षेत्रसामर्थ्ययोर्भेदे द्वयोः पुरुषोत्तमयोरासीदेकवाक्यता मानववैषम्यदूरीकरणे। जगत् केनचित् सर्वज्ञेन सर्वशक्तिमता निर्मितम्, खर्वो मानवो यन्त्रवत् तस्य हस्ते समर्पितः स्वपरिधावर्दितुं प्रभवति। सर्वशक्तिमत ईश्वरस्य कार्ये स किमपि कर्तुमप्रभुः—इतीश्वरवादो बुद्धेन प्रत्याख्यातः, बहुजनहिताधारो धर्मस्तु नापास्तः। मार्क्स ईश्वरं धूर्तमूर्खाविलमतिजनमनःसंसृष्टममन्यत। धर्मस्तु तन्मतेऽहिफेनसदृशः प्रबुद्धमानवमूर्च्छाकरः। धर्मेण केवलं मूर्च्छापादनमेव कृतमिति तत्संपृक्तं सर्वमपि हेयमिति नासीद् मार्क्सस्य मनीषितम्। काव्ये, कलासु, अन्येऽपि मानवनिर्माणेऽस्ति बह्वपि धर्मसंपृक्तं किमिति तत् सर्वं परिहर्तव्यम्। पुरुषस्य न केवलमुदरम्, तस्य मनोऽपि वर्तते। उभयोर्बुभुक्षायाः शान्तिरपेक्षिता।

बुद्धः शान्तिवादी अहिंसापरायणः। आचारशून्या शान्तिर्नासीत् तस्य बहुमता। बुद्धशासनं देशान्तरे प्रसारयितुं प्रवृत्ता धर्मदूताः स्वाचरणेन स्वीयामक्षुण्णां शान्तिवादितामदर्शयन्। बुद्धेन युद्धाय सन्नद्धाः शाक्याः कौलियाश्च निवारिताः। रोहिणी नदी उभयो राज्ययोर्मध्यवाहिनी। तज्जलकृते शाक्याः कौलियाश्च शस्त्रसज्जा अभूवन्। बुद्धेन पृष्टम्—"कस्य मूल्यमधिकतरं, नद्या जलस्य, युष्माकं बन्धुबान्धवानां रक्तबिन्दोर्वा। बन्धुबान्धवानां रक्तबिन्दोरेव मूल्यमधिकमिति सर्वैरभ्युपगतम्। ते सम्मर्दतो व्यरमन्त। भारताद् बहिर्बुद्धस्य शान्तिसंदेशमादाय तस्य धर्मदूता अगच्छन्। जगत्यन्येऽपि विश्वजनीना धर्माः। तैः स्वप्रसाराय खड्गसाहाय्यमसकृद् गृहीतम्। बुद्धस्यैव केवलो धर्मो नैवमपराद्धः। मार्क्सोऽन्ततस्तु शान्तिवादी एव। शान्तिभङ्गस्य कारणं मानववैषम्यं सर्वस्य स्वस्याल्पपुरुषायत्तता। विश्वस्यैकं कुलमारचितं चेन्न सम्भवति युद्धम्। स्वत्वापहरणमेव बीजं सर्वेषां सम्परायाणाम्। दस्यो राज्ञा स्वीकृतिर्न शमाय भवति। उभयोर्द्विपदोत्तमयोर्मार्गयोरस्ति भेदः। बुद्धो मध्यमप्रतिपत्प्रतिष्ठाता। अहिंसाशान्तिविषयेऽपि तस्य मध्यमा प्रतिपत्।

सर्वतोऽधिकं साम्यं तु बुद्धमार्क्सयोर्दर्शनेऽस्ति। 'सर्वमनित्यम्', 'यत् सत् तत् क्षणिकम्', 'यन्न क्षणिकं तत् कदापि न सत्' इत्येवमस्त्याधारभूता दृष्टिर्बुद्धस्य। मार्क्सोऽपि जगत् क्षणिकं मन्यते, विश्वं तस्यैकैककणोऽपि प्रतिक्षणं परिवर्त्यमानम्। परिवर्तनं चैतन्नापाततः। पूर्वक्षणस्थितस्य वस्तुनः परक्षणेऽत्यन्ताभाव उभयोरभिप्रेतः। अगुतममपि वस्तु उद्भूयमानमात्यन्तिकेन स्वीयेन ध्वंसेन समं सत्तामापद्यते। अपरस्मिन् क्षणे तत्स्थानेऽवस्थीयमानं सर्वथाऽन्यदेव वस्तु। एवं कार्यकारणयोः संबन्धो न तादात्म्येन! कारणं यदनन्तरपूर्वक्षणे स्थितम्, कार्यं कारणस्यानन्तरपरक्षणे निर्वर्त्यमानम्। एतदर्थमेव कार्यकारणयोर्लक्षणमस्मिन् (कारणे) सति, इदं (कार्यं) भवति। अयमेव प्रतीत्यसमुत्पादो नाम। कार्यकारणयोः संबन्धः केवलं कालानन्तर्येण, शारीरिकः सम्बन्धस्तु न कदापि तयोः। ननु कथमेकताभानं तयोः? सादृश्यादिति प्रत्युच्यते बौद्धैः। सर्वं कार्यं कारणसदृशं भवति, यथा पित्रोः सदृशः पुत्रः अयमस्ति सार्वत्रिकः सार्वकालिको नियमः सर्वैरनुद्रितचक्षुभिः प्रत्यक्षदृष्टः; 'सेयं दीपकलिका' इत्यत्रापि सादृश्यादेकताभ्रान्तिः। सैषा सदृशताऽऽनुवंशिकतारूपेण सर्वेषु प्राणिष्वप्राणिषु च दरीदृश्यते। यदा बुद्धेन सर्वानित्यतावाद उद्घोषितः, तदा भारते नित्यकूटस्थाक्षणिकस्यात्मतत्त्वस्य स्थापना मनीषिवर्गेऽभूत्। बाह्यस्य वस्तुनः क्षणिकता तैः स्वीक्रियते, आन्तरस्यात्मनस्तु तथाभावो न प्रतिज्ञायते। आत्मवादविरोधिनो

बुद्धस्य वादोऽनात्मवादनाम्नाऽभिहितः। अनयोर्नाभून्न भवति न च भविष्यति समन्वयः कदापि। स्वीयेनाऽनात्मवादेन बुद्धो जीवात्मनः परमात्मनश्च सत्तां प्रतिक्षिप्तवान्। इदानीमपीममनात्मवादमाकर्ण्यास्माकं पण्डिता भीता इव दृश्यन्ते। आधारभूतं किमपि कूटस्थं कारणं न चेत् कथं स्याज्जगतः प्रादुर्भावः? अचेतनस्य जगतो न चेत् कोऽपि कर्ता कथं तत् सम्भवेत्? एवमाकलयन्तस्ते न बहु मन्यन्ते बुद्धस्यानात्मवादम्।

अनात्मवादेऽनीश्वरवादे च बुद्धमार्क्सयोरस्त्यैकमत्यम्। मार्क्सस्य वादो द्वन्द्वात्मकवादनाम्ना प्रसिद्धः। अस्ति कार्यकारणयोः सनातनं द्वन्द्वम्, कार्यं कारणस्यात्यन्ताभावायैव भवति।

कार्यमकारणं न भवतीति जगतोऽपि कारणमपेक्षितम्। एतच्च बौद्धैर्न सर्वथा निरस्यते। उच्यते तु जगति न किमपि कार्यं यदेककारणसम्भूतं स्यात्। एकस्य कार्यस्य कृतेऽनेकानि कारणान्यपेक्ष्यन्ते। सम्भूयैव कारणान्येकं कार्यं कारीणि। एकस्य कार्यस्य निर्माणाय कारणानां सामग्री, कारणानां साकल्यमपेक्ष्यते। घटं कुम्भकार एव न रचयति मृत्पिण्डः, दण्डः, चक्रम्, मृत्पिण्डवाहको गर्दभः, तस्यास्तरणमित्यादीन्यनेकानि वस्तूनि कारणभूतानि। सत्यपि सर्वस्मिन् भौतिककारणजाते घटनिर्माणं न सम्पद्येत, यदि पञ्चाशदधिकानां कुलालपूर्वजानां विद्या परम्परया नाधिगता भवेत्। एवं न कार्यत एकस्य कारणस्यानुमानम्। कारणसामग्रीसिद्धावीश्वरस्य कारणता प्रतिषिद्धा। बौद्धानां कारणसामग्री मार्क्सवादे कारणमात्रायां परिणता। विशेषमात्रासु समग्रीभूतानि कारणवस्तूनि सर्वथाऽपूर्वं कार्यं प्रादुर्भावयन्ति। मात्रायां स्तोकमप्यूनता चेत् न कार्यं सम्पद्येतेति रसायनशास्त्रवेदिभिः सुपरिज्ञातम्। कारणानां समग्रतैव कार्यनिर्माणायालम्।

आपाततः स्थितमप्यन्तर्बहिर्जगत्तु प्रतिक्षणं चरमाणम्, चलमानम्, अत्यन्ताभावमापद्यमानम्, परिणंस्यमानम्। सद्वस्तु क्षणिकमेव भवितुमर्हति। धर्मकीर्तिना प्रतिपादितम्—"अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत्" इति। स्वप्ने आहृतो मोदको न सत्, स हि न भवत्यर्थक्रियासमर्थः, बुभुक्षानिवारणभूतार्थक्रियायां समर्थः। जाग्रदवस्थायां तु स भवत्यर्थक्रियासमर्थ इति सद्भूतः। अर्थक्रियासमर्थत्वमेव केवलं प्रमाणं कस्यापि सद्भूतत्वे। अत्र मार्क्सस्याप्यस्त्यविप्रतिपत्तिः। परमं प्रामाण्यं वस्तूनामेव। वस्तुतन्त्रं तत्त्वज्ञानम्, अवस्तुतन्त्रं तु केवलं कल्पनाजल्पनम्। वस्तुविरोधे न कस्यापि प्रामाण्यम्। धर्मकीर्तिश्च

कथयति—"यदिदं स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयम्" इति। चरमो वस्तुवाद एष य उभाभ्यां स्वीक्रियते।

पश्चात्तनेषु बौद्धेषु नानावादा अजायन्त, अथापि मौलेऽनित्यतावादे तेषां नासीद् विमतिः। धर्मकीर्तिर्वस्तुवादो अथापि विज्ञानवादसमर्थकः। विज्ञानवादिना बाह्यस्य वस्तुनः सत्ता प्रत्याख्याता। धर्मकीर्तिनापि विज्ञानवादः समर्थितः। तत्र तु तस्योक्तयो न प्रौढाः। केवलमेतावदेव युक्तिसहम्—दृश्यस्य बाह्यस्य जगतः कारणान्यणुतमान्यतिसूक्ष्माणि। अद्यतनमपि भौतिकं शास्त्रं परमाणुर्निराकार एवेति विज्ञापयति। परमाणुगर्भे तद्घटकसूक्ष्मतमोंशस्तु परमाणुतोऽपि विलक्षणः, कदाचित् कणरूपोऽन्यदा तरङ्गरूपश्च विज्ञायते। तस्य रूपभिन्नताप्रख्यापनाय यद्यरूपं विज्ञानमभिधीयेत तर्हि धर्मकीर्तेर्विज्ञानवादः स्याद् नात्यन्तं वस्तुविरुद्धः।

बुद्धमार्क्सयोर्वादे साम्यमस्तीति नादृष्टचरम्। बौद्धदर्शनमभिज्ञाय लघीयसा पथा मार्क्सदर्शनावगाहनमिति न सन्देहलेशः।

अन्यस्मिन्नपि क्षेत्रेऽस्ति तयोरतीव साम्यम्। उभावपि जनतन्त्रतां बहु मन्येते। बुद्धस्य तु शुभं तदेव यत् "बहुजनहिताय बहुजनसुखाय"। तस्मिन् काले भारते मगधकोसलादीनि समृद्धानि राज्यान्यासन्। बुद्धस्य तु समादरभाजनं लिच्छवीनां गणतन्त्रम्। स्वीयस्य संघस्य स्थापनमपि बुद्धेन गणानुरूपं कृतम्। गणसदृशी एव छन्ददानव्यवस्था तत्र प्रवर्तिता। मार्क्सोऽप्यत्र बुद्धमेव समर्थयति। आर्थिकवैषम्ये जनतन्त्रता न संभवतीत्यार्थिकवैषम्यं बहिष्कार्यम्। आदौ बौद्धसंघे नासीदार्थिकं वैषम्यमिति स्वच्छन्दं छन्ददानं सम्भवति स्म। मतभेदे यद् बहुमतं तद् ग्राह्यमिति तद्व्यवहाराय काष्ठमयी छन्दशलाका प्रायुज्यत। बुद्धस्य जनतन्त्रवादो नात्रैव परिसमाप्तः। तेन समष्टिः समाजः संघो वा व्यक्तेरुपरि स्वीकृतः, मातृष्वसा प्रजापती गौतमी स्वकर्तितं पटमादाय बुद्धाय समर्पितुमैच्छत्। व्यक्तितोऽधिकं संघस्य दानं फलदमिति सम्भाष्य बुद्धेन संघाय समर्पयितुं प्रेषिता गौतमी। निर्वाणानन्तरमपि न काऽपि व्यक्तिः संघराजो वा तस्य स्थानापन्नः, संघ एव तदधिकारभाक् संमतः।

एवमार्थिकसामाजिकसाम्यवादे, अहिंसाशान्तिविषये, दार्शनिकेऽनित्यतावादे, अनात्मवादे, अनीश्वरवादे, कारणसामग्रीवादे, वस्तुवादे, जनतान्त्रिकतायां चोभयोर्महामनीषिणोरद्भुतं साम्यम्।



बुद्ध और मार्क्स की समानताएँ

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

बुद्ध मार्क्स से २४०० वर्ष पहले पैदा हुए थे। इन दोनों के समय में अत्यधिक अन्तर है। इनके विचारों में भी यदि अन्तर हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। बुद्ध धर्म के प्रतिष्ठापक थे। इनका धर्म ईसा की छठी शती में सम्पूर्ण सभ्य समाज में व्याप्त था। वहाँ की जनता के श्रद्धा का भाजन था। आज भी उनके धर्म के अनुयायी अधिक संख्या में हैं। यद्यपि आजकल के विद्वानों में केवल धर्म के विषय में ऐकान्तिक निष्ठा रहे, इसकी संभावना नहीं है, फिर भी इसमें किसी को सन्देह नहीं है कि बुद्ध के अनुयायियों में उनके प्रति समादर का भाव है। बुद्ध योगमार्ग के अनुगामी तथा परलोक में विश्वास रखते थे। मार्क्स का रास्ता इसके विपरीत था।

कुछ विषयों में भेद होने पर भी अन्य विषयों में उनमें अद्भुत साम्य था। मार्क्स मानव के सामाजिक एवं आर्थिक भेद को अनिष्टकर मानते थे, इसलिए उनको दूर करने के लिए उन्होंने अपने जीवन को लगा दिया। इसके लिये उन्हें बहुत कष्ट उठाने पड़े। वे अपनी मातृभूमि से निकाल दिये गये और एक स्थान से दूसरे स्थान पर यायावर की भाँति घूमते रहे। वे घर छोड़कर संन्यासी नहीं हुए थे, फलतः पत्नी एवं सन्तान के भार को ढोते हुए अकिंचनता तथा उसकी वेदना को सहर्ष शिर पर ढोते रहे। बुद्ध भी सामाजिक भेदभाव तथा आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए प्रवृत्त हुए थे। वर्षाऋतु के तीन महीनों को छोड़कर वे अपना पूरा समय चारिका में ही व्यतीत करते थे। पश्चिम में सोमनाथ से लेकर बिहार की सीमा तक और उत्तर में हिमाचल से लेकर दक्षिण के विन्ध्याचल पर्वत तक उनका विचरण क्षेत्र था। यहाँ घूमते हुए उन्होंने अपने सन्देशों को प्रचारित किया। उनके उपदेश सरल, हृदयंगम एवं मनोहर थे। उनका आचार तथा व्यक्तित्व भी उसी के अनुरूप था। उनके समकालीन पण्डित तथा सामान्य जन, जो भी एक बार उनके सम्पर्क में आया, उन्हें अपने मार्गद्रष्टा के रूप में स्वीकार किया। उनके जीवन काल में ही

तक्षशिला, स्यालकोट आदि प्रत्यन्त देशों से मेधावी लोग आकर उनके अन्तेवासी बने और अस्सी वर्ष की अवस्था में उनके निर्वाण के समय तक उस समय के ज्ञात भारत में तथागत का धर्मशासन फैल गया।

मार्क्स १८१८ ई० में जर्मन देश के ट्रीटनगर में पैदा हुए थे। २५ वर्ष की अवस्था में (१८४३ ई०) अपने देश से निकाले गये। पेरिस तथा ब्रूसेल्स नगरों में थोड़े थोड़े समय विश्राम करते हुए १८४९ ई० में लन्दन नगर पहुँचे। उसके बाद मृत्यु तक उन्होंने अपना जीवन प्रायः वहीं बिताया। १८८३ ई० में ६५ वर्ष की अवस्था में उन्होंने अपनी जीवन लीला समाप्त कर दी। युवावस्था में ही उन्होंने मनुष्य की समता का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु यह कार्य उनकी मृत्यु की परवशता ने समेट लिया। उनके जीवनकाल में ही उनके विचार समस्त भूमण्डल में फैल गये। उनकी मृत्यु के ३४ वर्ष बाद उनके विचार पृथ्वी पर मूर्तरूप में उतरे और महान् रूस देश में साम्यवादी शासन शुरू हुआ।

मानव की समानता बुद्ध तथा मार्क्स दोनों को एक ही भाँति अभिप्रेत है। हर मनुष्य में प्रतिभाभेद हो सकता है। एक घर में माता-पिता के एक होने पर भी बालकों में बुद्धि की विषमता देखी जाती है। फिर भी इसके कारण उनमें हीन या उत्तम की भावना नहीं होती। उनमें एक माता-पिता की सन्तान का भाव, बन्धुत्व, समान स्नेह और भोग के अधिकार भी समान माने जाते हैं। मार्क्स ने निरपवाद रूप में इस तरह का आचरण माना है। बुद्ध भी यही चाहते थे। किन्तु बुद्ध ने इसका तत्कालीन सामाजिक क्षेत्र में व्यावहारिक रूप देना संभव न समझकर समाज के एक अंश में ही भोग की समानता स्थापित की, जिसे भिक्षु एवं भिक्षुणी संघ कहते हैं। समानता की भावना पर आधारित सुन्दर संघीय जीवन को देखकर स्वयं लोग इसके प्रति आकृष्ट होंगे, ऐसी उन्हें आशा थी। बुद्ध के जमाने में जो बात असंभव थी, वह बात मार्क्स के जमाने में अनायास संभव थी। इसीलिए मार्क्स ने सम्पूर्ण मानव जाति की आर्थिक समानता के सिद्धान्त को प्रसारित किया। मार्क्स के युग में संसार में यन्त्रों की प्रबलता तथा बहुलता थी। बहुत से देशों में धातु एवं कपड़ों आदि के बड़े बड़े कारखाने स्थापित हो चुके थे। रात दिन वहाँ हजारों एवं लाखों की संख्या में कर्मचारी काम करते थे। ये लोग अपने गाँव तथा घर छोड़कर यन्त्रालयों की ही शरण में जा चुके थे। यन्त्रालयों के चलने पर ही उनका पेट-पालन हो सकता था।

बन्द होने पर वे भोजन से वंचित होकर मृत्यु के कगार पर खड़े हो जाते थे। 'भूखा कौन सा पाप नहीं करता'। पहले मानव के उपभोग के लिए खाना, पानी, वस्त्र आदि दुर्लभ थे। औद्योगिक युग में तो महाप्रलय के जल प्लावन की भाँति उन्होंने संसार को घेर लिया था। समय समय पर ग्राहकों के अभाव में वस्तुएँ घरों में ही रह जाया करती थीं। जो श्रमिकों को कार्यरहित बना दिया करती थीं। काम के अभाव में खाना न मिलने पर श्रमिक वर्ग चुप कैसे रह सकता था। प्राचीन काल में कारीगर घर-घर एवं गाँव-गाँव में फैले हुए थे। कहीं एकत्र होकर कुछ करने में सक्षम नहीं थे। इस समय तो लाखों से अधिक की संख्या में वे एक ही नगर में रहने लगे थे। संघ की शक्ति सर्वोच्च शक्ति है और वह उनके हस्तगत ही है। इस तथ्य को मार्क्स ने देखा। इस संघबल से मनुष्य साम्य स्थापित करने में समर्थ था और उसी से श्रमिकों की भूख एवं प्यास भी दूर हो सकती थी। कारखाने में लाखों-लाख की संख्या में रहने वाले श्रमिकों का भाग्य एक मनुष्य के अधीन था। वह अधिक से अधिक लाभ की इच्छा से अपने कारखाने को चलाता था। यदि उसे लाभ मिलता था तो वस्तु के उत्पादन की बाढ़ आ जाती थी, यदि उसे लाभ नहीं होता तो वह कारखाना बन्द कर देता था और इस प्रकार मजदूरों को काम से विरत रहना पड़ता था।

बुद्ध के समय में इस प्रकार की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति नहीं थी। इसलिए उन्होंने जिस साम्यवाद का उपदेश दिया, वह एकांगी था और वह भी केवल भोग का साम्य था, कार्य का नहीं। मार्क्स ने भाग तथा कार्य दोनों में ही समानता स्वीकार की। इस प्रकार उन्होंने न केवल साम्यवाद का सिद्धान्त ही बतलाया, अपितु उसको प्राप्त करने का उपाय भी बतलाया। उस समय पूँजीपति वर्ग के हाथ में निर्माण एवं विध्वंस की एक ऐसी अमोघ एवं अनियन्त्रित शक्ति थी, जिससे मानवता का संहार भी संभव था। इस शक्ति को राष्ट्र के अधीन करना चाहिए, इस सिद्धान्त को उन्होंने सर्वथा समुचित एवं संभाव्य सिद्ध किया। बुद्ध ने मनुष्य के हृदय की स्वाभाविक सरलता के आधार पर जनता के बीच समानता स्थापित करने का यत्न किया, इससे कुछ लोगों का हृदय परिवर्तित हुआ भी हो, किन्तु इससे सम्पूर्ण पूँजीपति वर्ग का हृदय परिवर्तन सम्भव नहीं था। इस प्रकार बुद्ध के द्वारा स्वीकृत अस्त्र नये सन्दर्भ में अत्यन्त निर्बल सिद्ध हुआ। इसके विपरीत मार्क्स ने मजदूरों की एकता का अस्त्र स्वीकार किया। वह सर्वानुभूत अचूक अस्त्र था। जब तक पेट में भूख है, जब

तक भूख से मृत्यु होती रहेगी, तब तक मजदूरों का संघ संघर्ष से कैसे विरत होगा। इसके पूर्व यह नहीं देखा गया था, लेकिन अब मजदूर अपने प्रयत्नों का फल प्राप्त करने लगे। मजदूरों के प्रत्येक संघर्ष के बाद लाभ उनके हाथों में ही उपलब्ध होता गया। पूँजीपति लोग भी मजदूरों के संघर्ष को दबा नहीं सके तथा उनकी मांगों को स्वीकार करने के लिये विवश हो गये। अपनी मांग का प्रतिफल प्राप्त कर लेने के बाद मजदूरों में संघर्ष के प्रति श्रद्धा बढ़ती गयी। इस प्रकार संघर्ष और भी बढ़ते गये। इसी प्रकार मजदूरी और संघ की निष्ठा के बीच क्रमशः मात्रा बढ़ती गयी और अन्त में ४० वर्ष पहले पृथ्वी के लोगों का छठां भाग मार्क्स प्रतिपादित साम्यवाद में दीक्षित हो गया।

क्षेत्र और सामर्थ्य की भिन्नता रहते हुए भी उक्त दोनों महापुरुषों के बीच इसमें एकवाक्यता थी कि वे मानव वैषम्य को दूर करना चाहते थे। "यह संसार किसी शक्तिसम्पन्न सर्वज्ञ के द्वारा बना हुआ है और बौना मनुष्य उसके हाथ में यन्त्र की भाँति अपनी सीमा में घूमने के लिए विवश है, वे उस शक्ति-सम्पन्न ईश्वर के कार्य में कुछ भी करने में असमर्थ हैं"—इस प्रकार के ईश्वर-वाद का बुद्ध ने प्रत्याख्यान किया था, किन्तु उस धर्म का प्रत्याख्यान नहीं किया, जो बहुजन के हित के लिए था। मार्क्स ने भी ईश्वर को मूर्ख एवं धूर्तों के कलुषित मन की सृष्टि माना। धर्म भी उनके मत में अफीम की भाँति है, जो जगे हुए मानव को मूर्च्छित कर देता है। यह ठीक है कि धर्म ने संसार को मूर्च्छित किया है, लेकिन उससे सम्बद्ध सब कुछ का परित्याग नहीं कर देना चाहिए, ऐसा उनका विचार था। काव्य, कला एवं अन्य प्रकार के मानव सभ्यता के विकास में धर्म ने बहुत कुछ किया है, इसलिए उसका सर्वथा परिहार कैसे किया जा सकता है? मनुष्य के पास केवल पेट ही नहीं है, मन भी है, अतएव उसकी भूख की भी शान्ति आवश्यक है।

बुद्ध शान्तिवादी एवं अहिंसापरायण थे। उनकी दृष्टि में आचरणशून्य शान्ति स्वीकृत नहीं थी। बुद्ध-शासन को देश-विदेशों में प्रसारित करने वाले उनके धर्मदूतों ने अपने आचरण के बल पर उनकी शान्तिप्रियता का सन्देश फैलाया। स्वयं बुद्ध ने युद्ध के लिए सन्नद्ध शाक्यों एवं कोलियों को युद्ध से विरत किया था। दोनों राज्यों के बीच में रोहिणी नदी थी। उसके जल के लिए शाक्य एवं कोलिय शस्त्रसज्जित होकर रण के लिए आ चुके थे। बुद्ध ने उनसे पूछा—किसका मूल्य अधिक है? नदी के जल का या आप सभी बन्धुबान्धवों

के रक्त का ? इसे सभी ने माना कि बन्धु-बान्धवों के रक्तबिन्दुओं का ही मूल्य अधिक है। इस प्रकार वे युद्ध से हट गये। बुद्ध के शान्ति सन्देश को लेकर उनके धर्मदूत देश के बाहर भी गये। संसार में अन्य भी विश्वजनीन धर्म हैं, किन्तु उन्होंने अपने प्रचार-प्रसार के लिए अनेक बार तलवार भी हाथ में धारण की। केवल बुद्ध का ही ऐसा धर्म है, जिसमें ऐसा दाग नहीं लगा है। मार्क्स भी अन्त में शान्तिप्रिय ही थे। शान्तिभंग का कारण मानव की आर्थिकविषमता तथा सारे धन का थोड़े लोगों के हाथ में बटुर जाना है। संसार का यदि एक कुटुम्ब बन जाय तो युद्ध नहीं होगा। किसी के स्वत्व का अपहरण करना ही सभी प्रकार के संघर्षों का बीज होता है। राजाओं द्वारा लूट की छूट देना शान्ति-कारक नहीं हो सकता है। दोनों उत्तम पुरुषों के मार्ग में भेद था। बुद्ध मध्यम मार्ग के प्रतिष्ठापक थे। अहिंसा एवं शान्ति के विषय में भी उनकी मध्यमा प्रतिपदा ही थी।

बुद्ध तथा मार्क्स के दर्शनों में पर्याप्त समानता है। "सब अनित्य हैं, जो सत् है, वह क्षणिक है; जो क्षणिक नहीं, वह कदापि नहीं है"—इत्यादि बुद्ध के मूलाधार सिद्धान्त हैं। मार्क्स भी संसार को क्षणिक मानते हैं और विश्व के कण-कण में प्रतिक्षण परिवर्तन मानते हैं। यह परिवर्तन भी सतही नहीं है। दोनों का यह मत है कि पूर्व क्षण में स्थित वस्तु का अपर क्षण में अत्यन्त अभाव हो जाता है। सूक्ष्मतम वस्तु की सत्ता भी अपनी उत्पत्ति के साथ अपने आत्यन्तिक विनाश को साथ रखती है। इस प्रकार दूसरे क्षण में उत्पन्न वस्तु सर्वथा भिन्न होती है। इस प्रकार कार्यकारण के बीच तदुत्पत्ति सम्बन्ध है, तादात्म्य नहीं। कारण वह है, जो कार्य के समनन्तर पूर्व क्षण में स्थित रहता है। इसी प्रकार कार्य वह है, जो कारण के समनन्तर दूसरे क्षण में उत्पन्न होता है। इसके आधार पर कार्य-कारण का लक्षण बनता है—'कारण के रहने पर कार्य होता है'। इसे ही 'प्रतीत्यसमुत्पाद' कहते हैं। काल के आनन्तर्य की दृष्टि से कार्य और कारण के बीच सम्बन्ध बनता है। किसी भी स्थिति में उनके बीच शारीरिक सम्बन्ध नहीं बनता है। यदि यह प्रश्न हो कि उन दोनों के बीच समानता का कारण क्या है ? तब बौद्ध उत्तर में सादृश्य को कारण बतायेंगे। सभी कार्य कारण के समान होते हैं, जैसे—पिता के समान पुत्र होता है। यह ही सार्वकालिक एवं सार्वत्रिक नियम है, जिसे सभी आँख वाले देख सकते हैं। यह वही 'दीप की लौ है'—यह एकत्व की भ्रान्ति है, जिसका कारण सादृश्य है। इस प्रकार का सादृश्य आनुवंशिक रूप से सभी जड़-चेतन में दिखाई पड़ता है। बुद्ध ने उस समय

सर्वानित्यतावाद की घोषणा की, जब कि इस देश में नित्य, कूटस्थ, अक्षणिक आत्मतत्त्व की स्थापना हो चुकी थी। उसमें से कुछ ने बाह्य वस्तु की क्षणिकता स्वीकार की थी, किन्तु आन्तरिक आत्मा की अनित्यता किसी को सम्मत नहीं थी। इसलिए आत्मवाद के विरोधी बुद्ध का सिद्धान्त अनात्मवाद कहा गया। इन दोनों के बीच न तो समन्वय हुआ और न होता है और न होगा। बुद्ध ने जीवात्मा तथा परमात्मा का खण्डन किया। आजकल भी अनात्मवाद सुनकर पण्डित डरे से प्रतीत होते हैं। यदि कोई कूटस्थ कारण नहीं है तो संसार की उत्पत्ति कैसे हुई? अचेतन जगत् का यदि कोई कर्ता नहीं है तो वह कैसे उत्पन्न हुआ? इस प्रकार की अनेक शंकाएँ करते हुए वे बुद्ध के अनात्मवाद का अनादर करते हैं।

अनात्मवाद और अनीश्वरवाद की दृष्टि से बुद्ध और मार्क्स में एकता है। मार्क्स का सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। कार्य और कारण में सनातन द्वन्द्व है। कार्य कारण के आत्यन्तिक अभाव के लिए उत्पन्न होता है।

कार्य बिना कारण के नहीं होता है, इसलिए संसार के भी कारण की आवश्यकता है—इस सिद्धान्त का बौद्ध खण्डन नहीं करते। किन्तु वे कहते है कि संसार में कोई भी ऐसा कार्य नहीं, जो एक कारण से उत्पन्न हो। एक कार्य के लिए अनेक कारणों की अपेक्षा होती है, अनेक कारण मिलकर कार्य को उत्पन्न करते हैं। एक कार्य की उत्पत्ति के लिए कारणों की सामग्री या कारणों का साकल्य अपेक्षित है। घट केवल कुम्भकार ही नहीं बनाता, उसके लिए मिट्टी, दण्ड, चक्र, मिट्टी ढोने के लिए गदहा, उस पर लादने के उपकरण आदि अनेक कारण आवश्यक हैं। सभी भौतिक कारणों के होने पर भी घट का निर्माण नहीं हो सकता, यदि कुम्भकार को पीढ़ी दर पीढ़ी से जानकारी प्राप्त न हुई हो। इस प्रकार कार्य के द्वारा किसी एक कारण का अनुमान नहीं किया जा सकता। कारण-सामग्री के होने से कार्य के होने का सिद्धान्त स्वीकार करने पर 'ईश्वर जगत् का कारण है', यह सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। बौद्धों की कारण-सामग्री का सिद्धान्त मार्क्सवाद में कारणमात्रा का सिद्धान्त बन जाता है। कारण-सामग्रियों के एक विशेष मात्रा में होने पर एक सर्वथा अपूर्व कार्य उत्पन्न हो जाता है। उस विशेष मात्रा में यदि किंचित् भी न्यूनता रहे तो कार्य उत्पन्न नहीं हो सकेगा, यह रसायनशास्त्रियों को भी मालूम है। इस प्रकार कारणों की समग्रता ही कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ है।

आपाततः स्थिर दिखाई पड़ने वाला जगत् वास्तव में बाहर भीतर प्रतिक्षण बदलता रहता है, गतिशील रहता है तथा पूर्व के अत्यन्ताभाव पर आगे का नया परिणाम उत्पन्न होता है। कोई भी वस्तु क्षणिक रूप में ही सत् हो सकती है। धर्मकीर्ति ने कहा है—जो अर्थक्रियासमर्थ है, वही परमार्थसत् हैं। स्वप्न का लड्डू सत् नहीं है, क्योंकि वह अर्थक्रिया को सम्पन्न नहीं करता, या वह भूख को निवारण करने की अर्थक्रिया में समर्थ नहीं है। जाग्रत् अवस्था का लड्डू चूँकि अर्थक्रिया को करता है, अतएव सत् है। इस तरह किसी भी वस्तु की सत्ता का प्रमाण है, उसका अर्थक्रिया में समर्थ होना। इसमें मार्क्स को कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि क्रिया के प्रामाण्य के लिए उसका वस्त्वाधारित होना आवश्यक है। वस्तुओं के अधीन तत्त्वज्ञान है, वस्तुओं के बिना ज्ञान तो कल्पनामात्र या जल्पमात्र होगा। वस्तु से संवाद न होने पर किसी की प्रामाणिकता नहीं होगी। धर्मकीर्ति ने कहा है—"यदिदं स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयम्"। यह चरम वस्तुवाद ही है, जिसे बुद्ध और मार्क्स दोनों स्वीकार करते हैं।

बाद के बौद्धों में अनेक मतवाद उत्पन्न हो गये, फिर भी अनित्यतावाद के मूलभूत सिद्धान्त में उनका विरोध नहीं था। धर्मकीर्ति वस्तुवादी होते हुए भी विज्ञानवाद के समर्थक थे। विज्ञानवादियों ने वस्तु की बाह्य सत्ता का खण्डन किया है। इस विषय में उनकी उक्तियां पुष्ट नहीं हैं। उनका यह कहना युक्तियुक्त है कि बाह्य जगत् के कारण सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु हैं। आज का भौतिक विज्ञान भी परमाणु को निराकार ही बतलाता है। परमाणुओं में भी उनके घटक होते हैं। सूक्ष्म अंश परमाणुओं से भी विलक्षण होते हैं। या तो वे कण रूप हैं या तरंग रूप में होते हैं। इस प्रकार के अर्थ की भिन्नता को स्पष्ट करने के लिए अरूप विज्ञान का यदि धर्मकीर्ति आश्रय लेते हैं तो उनका विज्ञानवाद किसी तरह अत्यन्त वस्तुविरोधी नहीं होगा।

इस प्रकार बुद्ध और मार्क्स के सिद्धान्तों में समानता स्पष्ट है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बौद्धदर्शन को जानने के बाद मार्क्सवादी दर्शन को जानने का सरल मार्ग मिल आता है।

इतना ही नहीं, अन्य क्षेत्रों में भी उनमें अतीव साम्य है। वे दोनों जनतन्त्र को महत्त्व देते थे। बुद्ध उसे ही कल्याणकर मानते थे, जिसका उद्देश्य बहुजनहिताय और बहुजनसुखाय हो। उनके जमाने में भारत में कौशल और मगध जैसे

समृद्ध राज्य थे, किन्तु बुद्ध का लिच्छिवियों के गणतन्त्र के प्रति ही अधिक आदर-भाव था। यहां तक कि बुद्ध ने अपने संघ की स्थापना गणों के अनुकरण पर ही की थो। गणतन्त्र के समान उन्होंने अपने संघ में छन्ददान, (मतदान) व्यवस्था चलायी थी। मार्क्स भी यहां बुद्ध का समर्थन करते हैं। आर्थिक असमानता में जनतन्त्र नहीं चल सकता। इसलिए आर्थिक विषमता दूर होनी ही चाहिए। आदिम बौद्ध संघ में भी आर्थिक विषमता नहीं थी, इसलिए लोग स्वेच्छा से मतदान करते थे। मतभेद उपस्थित होने पर बहुमत को मान्य माना जाता था। इसके व्यवहार में काठ की शलाका (छन्दशलाका) का प्रयोग होता था। बुद्ध का जनतन्त्रवाद इतना ही नहीं था, अपितु उन्होंने समष्टि, समाज, या संघ का महत्त्व व्यक्ति से ऊपर स्वीकार किया था। अतएव जब उनकी मौसी प्रजापति गौतमी ने अपने हाथ से काते तथा बुने हुए वस्त्र बुद्ध को समर्पित करना चाहा तो बुद्ध ने कहा—व्यक्ति को देने से संघ को देना अधिक पुण्यप्रद है। और उन्होंने गौतमी को संघ को समर्पित करने के लिए आज्ञा दी। यही कारण है कि निर्वाण के बाद भी उनका स्थानापन्न कोई व्यक्ति या संघराज नहीं हुआ, प्रत्युत संघ ही उत्तराधिकारी माना गया।

इस प्रकार इन दोनों महामनीषियों के सिद्धान्तों में जो अद्भुत साम्य दिखाई पड़ता है, उनमें मुख्य है—आर्थिक एवं सामाजिक साम्यवाद, अहिंसा एवं शान्ति, अनित्यतावाद, अनात्मवाद, अनीश्वरवाद, कारणसामग्रीवाद, वस्तुवाद और प्रजातन्त्र।

अनुवादक श्री राधेश्यामधर द्विवेदी



सत्त्वेभ्यश्च जिनेभ्यश्च बुद्धधर्मागमे समे।
जिनेषु गौरवं यद्वन्न सत्त्वेष्विति कः क्रमः॥

(बोधिचर्यावतारः)

बौद्ध धर्म और मार्क्सवाद

भदन्त आनन्द कौशल्यायन

सन् १९५६ में नेपाल में जो विश्व बौद्ध सम्मेलन हुआ था, उसमें सम्मिलित होने का मुझे भी सुअवसर मिला था। भारत के विद्वज्जनों में, जिनका अपना स्थान था और जो उस समय तक संसार के बड़े बौद्ध नेताओं में अपने आप को प्रतिष्ठित कर चुके थे, ऐसे डा० भीमराव अम्बेडकर भी वहाँ उपस्थित थे। उस समय कुछ लोगों ने डा० अम्बेडकर से प्रार्थना की कि वे बौद्ध-धर्म और मार्क्सवाद पर एक भाषण दें।

कुछ लोगों में इससे बड़ी खलबली मच गई। उस समय डा० अम्बेडकर ने कहा था—आज दिन मार्क्सवाद का युग-धर्म है। यदि आप लोग उसके विषय में विचार करने तक से घबराएंगे तो अब से आप लोगों के विचारों में पंचशील अथवा दसशील ग्रहण करने के लिए कुछ वृद्ध-वृद्धाओं के सिवा कोई नहीं आएगा।

मेरी तो अपनी विनम्र मान्यता है कि मार्क्सवाद के विषय में विचार करते समय हमें न तो तनिक भी झिझकने की जरूरत है और न भयभीत होने की। बौद्ध-धर्म कोई मिट्टी का कच्चा घड़ा हो, ऐसा "मजहब" नहीं है। यह एक धर्म है धर्म। जिस प्रकार मार्क्सवाद आदमी के सोचने और तदनुसार जीवन यापन करने का एक विशिष्ट मार्ग है, उसी प्रकार बौद्ध-धर्म भी आदमी के सोचने और तदनुसार जीवन यापन करने का एक श्रेष्ठतर मार्ग है। इन दोनों मार्गों की न केवल तुलना की जा सकती है, बल्कि की जानी चाहिए।

चिन्तन की दो परम्पराएं हैं। **एक वह, जिसे बौद्धों और मार्क्सवादियों ने अपनाया है और दूसरी वह, जिसे ईसाइयों, मुसलमानों तथा बहुत से हिन्दुओं ने अपना रखा है। बौद्ध तथा मार्क्सवादी दोनों ही प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण को स्वीकार करते हैं। आँख से हमें एक तस्वीर या कोई**

दूसरी चीज दिखाई देती है। हम उसका अस्तित्व स्वीकार करते हैं। क्योंकि उसके अस्तित्व का हमारे पास प्रत्यक्ष-प्रमाण है। जिस प्रकार हमें रेल का इंजन आँख से तो दिखाई नहीं देता, किन्तु उसकी सीटी का : से सुनाई देती है। हम मान लेते हैं कि कहीं दूर बहुत दूर रेल का इंजन है। हम रेल के इंजन का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, क्योंकि उसके अस्तित्व का हमारे पास 'अनुमान' प्रमाण है। ये दोनों सिद्धान्तवादी किसी शब्द-प्रमाण को स्वीकार नहीं करते। दूसरी ओर ईसाई, मुसलमान या अधिकांश हिन्दू धर्म के बारे में विचार करते समय शब्द प्रमाण का पल्ला छोड़ ही नहीं सकते।

ईसाई जनता बाईबिल के प्रत्येक कथन पर ईमान लाती है। इसी प्रकार हमारे मुसलमान भाई भी कुरान शरीफ पर ईमान लाते हैं। ठीक इसी तरह हिन्दू वेदान्तियों से जब भी कोई प्रश्न पूछता है कि आप ब्रह्म के अस्तित्व पर क्यों विश्वास करते हैं ? तो उनके पास इस शंका का एक ही समाधान है कि "शास्त्रयोनित्वात्" अर्थात् "शास्त्र कहता है, इसलिए विश्वास करते हैं'।

अब हम देखें कि स्वतन्त्र चिन्तन-परम्परा के उत्तराधिकारी बौद्ध तथा मार्क्सवादी केवल प्रत्यक्ष और अनुमान को ही स्वीकार करने के कारण किन परिणामों पर पहुँचते हैं और हमारे ईसाई, मुसलमान तथा अधिकांश हिन्दू शब्द-प्रमाण को भी स्वीकार करने के कारण किन परिणामों पर पहुंचते हैं ?

बौद्ध और मार्क्सवादियों दोनों (क्योंकि वे शब्द-प्रमाण को नहीं मानते) के लिए यह सम्भव हुआ है कि वे अपने आपको आत्मा तथा परमात्मा सम्बन्धी मिथ्या धारणाओं से मुक्त रख सकें। किन्तु शब्द-प्रमाण के बन्धन से बंधे रहने के कारण हमारे मुसलमान, ईसाई तथा अधिकांश हिन्दू भाई यह न कर सके कि वे किसी न किसी तरह अपने आपको अल्लाह, गाड या ईश्वर और इसी प्रकार रूह (Soul) या आत्मा के मिथ्या-विश्वास से मुक्त रख सकें।

कुछ लोगों का कहना है कि बौद्ध धर्म तथा मार्क्सवाद दोनों चिन्तन परम्पराएँ यद्यपि अनीश्वरवादी, अनात्मवादी तथा अनित्यवादी हैं, तब भी दोनों में अन्तर है। यह अन्तर क्या है? **उन लोगों का कहना है कि बौद्ध धर्म तो देव-योनि तथा प्रेतयोनि मानता है, किन्तु मार्क्सवाद किन्हीं ऐसी योनियों में तनिक भी विश्वास नहीं रखता।**

इसमें कोई सन्देह नहीं कि बौद्ध पुस्तकों में देव-योनि का उल्लेख है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि **पेतवत्थु तथा विमानवत्थु सदृश ग्रन्थ बौद्ध-वांगमय के महत्त्वपूर्ण अंश हैं।** किन्तु इन ग्रन्थों में जो कुछ भी लिखा है वह प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों द्वारा सिद्ध हो सकता है या नहीं। यदि सिद्ध हो सकता है तो आज एक बौद्ध उनमें विश्वास करता है, कल प्रत्येक मार्क्सवादी भी विश्वास करने पर बाध्य होगा। यदि उन ग्रन्थों में लिखी बातें सिद्ध नहीं हों तो आज कोई भी मार्क्सवादी उनमें विश्वास नहीं रखता और कल कोई भी बौद्ध उनमें विश्वास नहीं रखेगा।

अब हम बौद्ध-धर्म तथा मार्क्सवाद में जो महत्त्वपूर्ण वास्तविक समानताएं अथवा असमानताएं हैं, उनकी चर्चा करेंगे।

बौद्ध दर्शन के तीन लक्षण प्रसिद्ध हैं—(१) सब कुछ अनित्य है, (२) सब कुछ दुःख है, (३) सब कुछ अनात्म है। जहां तक देखा जा सकता है, मार्क्सवाद इन तीन लक्षणों का विरोधी दर्शन प्रतीत नहीं होता।

अनित्य और अनात्म इन दोनों लक्षणों से पहले हम "दुःख" के स्वरूप पर ही विचार करें। 'दुःख' शब्द को अधिकांश लोग दुःख-वेदना के अर्थ में ग्रहण करते हैं, किन्तु सुख-वेदना भी पाँचो-स्कन्धों का एक अंग है और पांचो स्कन्धों को समग्र रूप से दुःख कहा गया है। इसलिए दुःख शब्द का अर्थ केवल दुःख वेदना हो ही नहीं सकता। 'दुःख' शब्द को हमें कुछ इस अर्थ में ग्रहण करना चाहिए कि इस संसार की कोई भी वस्तु स्थायी रूप से तृप्ति देने वाली नहीं है। प्रसिद्ध जर्मन बौद्ध दार्शनिक डा० ढालके का कहना था कि यह नहीं है कि हम किन्हीं भी आदर्शों तक नहीं पहुँचते, बल्कि सचाई यह है कि हम किन्हीं भी आदर्श तक पहुँच ही नहीं सकते। इसी अर्थ से संसार अन्तिम रूप में स्वभावतः सर्वांश में तृप्ति-कारक नहीं ही है।

भगवान् बुद्ध ने सभी उपादान-स्कन्धों को निःसंशय दुःख कहा है। किन्तु साथ-साथ उस दुःख का अन्त करने का उपाय भी बताया है।

क्या मार्क्स ने भी कुछ-कुछ ऐसा ही नहीं किया है। उसने भी कहा ही है कि आज का **समाज नाना विघ्न-बन्धनों से जकड़ा हुआ है और उन बन्धनों से मुक्ति का उपाय भी बताया ही है।** मार्क्स का यह कथन आज दुनियां भर के तेजस्वी वांगमय में अपना विशेष स्थान रखता है कि 'दुनियां

भर के मजदूरों एक हो जाओ। तुम्हारे पास तो अपने पैरों को बेड़ियों के अतिरिक्त और कुछ गवांने के लिए है ही नहीं।'

बौद्ध धर्म के बारे में यह धारणा गलत है कि जब तक हम इस पृथ्वी पर जीते हैं तब तक हम किसी भो तरह सम्पूर्ण दुःख का अन्त नहीं कर सकते। भगवान् बुद्ध की अनुशासना है कि इसी छह फुट के शरीर में दुःख का अन्त किया जा सकता है।

अब हम बौद्ध धर्म के दो अन्य लक्षणों को लेकर—अनित्य तथा अनात्म को लेकर—बौद्ध धर्म तथा मार्क्सवाद का तुलनात्मक विचार करें। ये दोनों ही गम्भीर दार्शनिक मन्तव्य हैं। स्वयं बौद्ध दार्शनिकों की एक से अधिक परम्पराओं में इनकी एक से अधिक तरह से व्याख्या की गई है। ऐसा माना जा सकता कि 'अनित्यता' के प्रश्न को लेकर बौद्ध धर्म और मार्क्सवाद में वैमत्य नहीं।

मार्क्सवाद के अनुसार अनित्यता अथवा परिवर्तनशीलता दो प्रकार की है-एक परिमाणात्मक परिवर्तन-शीलता, दूसरी गुणात्मक-परिवर्तन-शीलता। बर्फ में जो शीतलता का परिणाम है, उसमें कमी होते-होते उसका पानी बन जाना और फिर पानी में जो उष्णता है उसकी अधिकता होते-होते पानी का फिर भाप बन जाना मार्क्सवादियों के परिमाणात्मक-परिवर्तन तथा गुणात्मक-परिवर्तन के दो सरल उदाहरण हैं।

प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या हम प्रतीत्य-समुत्पाद अथवा प्रत्यय से उत्पत्ति के नियम को भी अपनी परम्परागत व्याख्या को विना अस्वीकार किए, कुछ वैसी ही व्याख्या नहीं कर सकते कि दोनों का समझना दुरूह न रहे। क्या हम जैसे यह कहते हैं कि अविद्या के होने से संस्कार होते हैं और संस्कारों के होने से नाम-रूप होता है, उसी प्रकार क्या हम यह भी नहीं कह सकते कि बर्फ के होने से पानी होता है और पानी के होने से भाप होती है। मैं समझता हूँ कि हम बड़े मजे में कह सकते हैं और अविद्या तथा संस्कार और नाम-रूप की अपेक्षा ये उदाहरण सरल भी हैं। प्रश्न पैदा होता है कि क्या तब बौद्ध दर्शन और मार्क्सवादी दर्शन में कुछ भी भेद नहीं? मैं समझता हूँ कि भेद है और महत्त्वपूर्ण भेद है नाम (Consciousness) तथा रूप (Material existence) के सम्बन्ध में।

नाम, चित्त, मन तथा विज्ञान ये सभी शब्द परस्पर पर्याय हैं। विज्ञान को चक्षुर्विज्ञान आदि (Eye consciousness) छः हिस्सों में बांटा गया है। प्रश्न है चक्षुर्विज्ञान कैसे उत्पन्न होता है ?[x] "चक्खुं च रूपं च पटिच्च उप्पज्जति चक्खुविञ्ञाणं।"

यदि चक्षु और रूप इन दोनों के आश्रय से ही चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति होती हो, तो फिर इसका स्पष्ट भावार्थ यही है कि रूप तथा चक्षु (भौतिक पदार्थ) से नाम (चित्त) की उत्पत्ति होती है। **यदि हम रूप से नाम की उत्पत्ति अथवा भौतिक पदार्थों से चित्त की उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार कर लें तो फिर बौद्ध दर्शन और मार्क्सवादी दर्शन में कहीं कुछ भी भेद नहीं रह जाता।** किन्तु यही वह मर्मस्थल है जो बौद्ध दर्शन को मार्क्सवादी दर्शन से पृथक् करता है। **रूप से नाम की उत्पत्ति अथवा भौतिक-जगत् से चित्त की उत्पत्ति यह बात किसी बौद्ध दार्शनिक को मान्य नहीं। चक्षु-विज्ञान की उत्पत्ति के लिए चक्षु तथा रूप के साथ विज्ञान का होना भी आवश्यक है, यही सभी बौद्ध आचार्यों की मान्यता है। चक्षु रूप तथा विज्ञान तीनों का समन्वाहार होने से ही चक्षु विज्ञान उत्पन्न होता है, यही सर्वसम्मत बौद्ध मत है।**

प्रश्न वहीं का वहीं है कि चक्षुर्विज्ञान के अस्तित्व में आने के लिए जिस विज्ञान का होना अनिवार्य है, स्वयं उस 'विज्ञान' की उत्पत्ति कैसे हुई है ? दीघनिकाय के महानिदान सूक्त के अनुसार 'नामरूपच्चया विञ्ञाणं' से सिद्ध होता है कि 'नाम तथा रूप' इन दोनों के होने से ही विज्ञान की उत्पत्ति होती है। इसी सूत्र में अन्यत्र यह भी कहा गया है कि 'नाम-रूपपच्चया फस्सो' अर्थात् नाम तथा रूप के होने से स्पर्श की उत्पत्ति होती है। जब प्रश्न होता है कि नाम तथा रूप की उत्पत्ति कैसे होती है तो इसी सूत्र में 'विञ्ञाणपच्चया नाम-रूपं' अर्थात् विज्ञान के होने से नाम-रूप की उत्पत्ति होती है भी धर्म-पाठ है। इससे स्पष्ट होता है कि जैसे नाम-रूप से विज्ञान की उत्पत्ति मानी गई है, उसी प्रकार विज्ञान से भी नाम-रूप की उत्पत्ति मानी गई है।

---

x इसका समाधान है कि चक्षु (eye) के होने से तथा रूपों (आलम्बनों--objects of eye sense) के होने से चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति होती है।

मेरी निजी विनम्र सम्मति है कि इस अस्पष्टता का एक कारण सम्भवतः यही है कि अभी तक मनुष्य की बुद्धि विज्ञान (चित) की उत्पत्ति कैसे हुई है या कैसे होती है, इस शंका का सही समाधान उपस्थित नहीं कर सकी है। विज्ञान (मन) की उत्पत्ति कैसे होती है ? यह प्रश्न हम पूछते हैं स्वयं मन से ही। चित्त की उत्पत्ति कैसे होती है, यह जिज्ञासा हम उपस्थित करते हैं स्वयं चित्त के सम्मुख ही। विज्ञान कैसे जन्म ग्रहण करता है, इस सवाल का जवाब-तलब करते हैं स्वयं विज्ञान से ही। प्रश्न पूछनेवाला भी विज्ञान है और उत्तर देने वाला भी स्वयं विज्ञान है। स्वयं विज्ञान ही अपनी उत्पत्ति की कहानी सुनाए तो आखिर कैसे सुनाए ? यह तो ठीक किसी आदमी से यह जिज्ञासा करने जैसा है कि क्या वह स्वयं अपने कन्धे पर चढ़ कर चल सकेगा ?

मार्क्सवाद तो निश्चयात्मक रूप से भौतिक दर्शन है। मार्क्सवाद का स्पष्ट कहना है कि चाहे आप उसे 'मन' कहें, चाहे 'चित्त' कहें, उसकी उत्पत्ति भौतिक तत्त्वों से ही हुई है। यह दूसरी बात है कि वैज्ञानिकों की 'भूत' की जो कल्पना है उसमें निरन्तर परिवर्तन होता चला जा रहा है। आज तो भूत' और 'शक्ति' का परस्पर रूपान्तरित हो जाना एक सर्वमान्य सिद्धान्त ही बन गया है। आईस्टाइन के सापेक्षवाद की सबसे बड़ी देन सम्भवतः यही है। विज्ञान का कहना है कि मनुष्यों की इन्द्रियों के सन्निकर्ष से विश्व के बारे में जो भी जानकारी प्राप्त हुई है, हो रही है, वह सब भौतिक ही है। यहां इन्द्रिय वचन से मात्र स्थूल इन्द्रियों का ग्रहण नहीं होना चाहिए। जितने भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म वैज्ञानिक यन्त्र हैं उन सभी का समावेश 'इन्द्रिय सन्निकर्ष' के अन्तर्गत किया जाना चाहिए।

यह बात एकदम सही है कि हम परम्परागत बौद्ध यह बात कभी स्वीकार नहीं कर सकते कि 'भूत' से 'चित' की उत्पत्ति हुई अथवा 'रूप' से 'नाम' की उत्पत्ति हो सकती है, लेकिन इसके साथ साथ यह बात भी उतनी ही सत्य है कि इस मत से भिन्न किसी दूसरे मत की स्थापना करना या उसे अंगीकार किये रहना भी आसान नहीं। बौद्ध दर्शन की मर्यादा है कि इसमें न तो कहीं इस बात को स्वीकार किया गया है कि 'रूप' से 'नाम' की उत्पत्ति होती है और न कहीं भी यही स्पष्ट रूप से बताया गया है कि नाम-चित्त-मन-विज्ञान की उत्पत्ति कैसे होती है ?

इस बात को दोहराने की कोई आवश्यकता नहीं कि इस विश्व में किसी भी अपरिवर्तनशील तत्त्व या किसी 'आत्मा' को स्वीकार न करना बौद्ध तथा मार्क्सवादियों की एक जैसी मान्यता है।

कुछ विवेचकों का कहना है कि **बौद्ध दर्शन तो पुनर्भववादी है, जब कि मार्क्सवाद किसी भी हालत में पुनरुत्पत्ति को नहीं मानता—दोनों दर्शनों के बीच यदि कोई सबसे बड़ी अलंघ्य दीवार है तो यही है।**

निःसन्देह सभी परम्परावादी बौद्ध पुनर्भव को स्वीकार करते हैं, किन्तु उनकी सबसे बड़ी आकांक्षा क्या है? क्या पुनर्भव से मुक्ति पाना ही प्रत्येक बौद्ध की सबसे बड़ी आकांक्षा नहीं है? वह कौन सा बौद्ध है जो यह चाहता हो कि वह एक जन्म के बाद दूसरा जन्म ग्रहण करता हुआ इस संसार सागर में गोते खाता रहे? एक भी बौद्ध ऐसा नहीं मिलेगा, जो यह स्वीकार करता हो कि वह ऐसा चाहता है। सच सच कहा जाए तो पुनर्भव से मुक्ति सभी भारतीय दार्शनिक की समान आकांक्षा है। जब मार्क्सवादी दर्शन अथवा अन्य किसी भी दर्शन की यही मान्यता हो कि पुनरुत्पति जैसी कोई चीज है ही नहीं, तो हमें उसमें झगड़ने की क्या आवश्यकता है।

हम कहते हैं कि पुनरुत्पत्ति है, किन्तु हम उसे जड़-मूल से नष्ट करना चाहते हैं। कुछ दूसरे दार्शनिक-जैसे मार्क्सवादी ही-कहते हैं कि पुनरुत्पत्ति है ही नहीं। इसलिए जो है ही नहीं, उससे मुक्ति पाने के प्रयास की बात करना ही व्यर्थ की बात है। यदि बार बार जन्म लेना ही हमारे जीवन का परमार्थ हो तो जितनी भी ऐसी मान्यताए है, जो पुनरुत्पित्ति को नहीं मानती, उन सभी से मोर्चा लेने में सार्थकता थी, लेकिन जब अपुनर्भव ही हमारा परमार्थ है और तब जब कोई कहता है कि पुनर्भव होता ही नहीं तो इससे सर्वाधिक प्रसन्नता तो हमें ही होनी चाहिए। क्यों? इसलिए कि हमारी आकांक्षा की पूर्ति पहले ही हो चुकी है। लेकिन सचाई यह है कि हाथी के दांत खाने के एक होते हैं, दिखाने के दूसरे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हम सभी चाहते हैं कि हमें अन्त में 'निर्वाण' मिले, जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा मिले, किन्तु अपने मन के अन्दर हम सभी या तो अपने इसी जन्म में जितने भी भोग भोग सकें, उन सभी को भोगना चाहते हैं और फिर हमारी यह भी प्रार्थना रहती है कि जब-जब हमारा जन्म इस संसार में हो, तो हमें

हर प्रकार की सुख-सामग्री उपभोग करने के लिए प्राप्त हो, और यदि हमारा जन्म किसी स्वर्ग-लोक में हो तो वहाँ भी हमें सभी प्रकार की दिव्य सम्पत्तियाँ उपभोग करने के लिए मिलें।

ईसाई, इस्लाम, हिन्दू धर्म और कुछ बौद्ध भी, जो मार्क्सवाद से युद्ध ठाने हुए हैं; वह कुछ अध्यात्म के संरक्षण के लिए नहीं है, बल्कि इसी पृथ्वी पर भोगी जा सकने वाली सुख-सुविधाओं के लिए ही है।

कर्नल इंगर सोल (१८३३-९९) अज्ञेयवादी था। उसकी स्थापना थी कि हम नहीं जानते हैं कि कोई परलोक है अथवा नहीं है। निरन्तर परलोक के ही पचड़ों में उलझे रहने में उसका विश्वास नहीं था। "तू लोगों का परलोक नष्ट करता है" कहकर लोग उसकी टीका करते थे। उसका उत्तर होता था—"मैं किसी का भी परलोक नष्ट करने नहीं जाता, लेकिन बहुत से ऐसे लोग हैं, जो गरीब किसानों का, दरिद्र मजदूरों का अनाथ स्त्रियों एवम् बच्चों का इहलोक नष्ट करने पर उतारू हैं। ऐसे लोगों से, ऐसे पण्डे-पुरोहितों से, ऐसे पादरियों से, ऐसे मुल्लाओं से मैं उन असमर्थ लोगों के इहलोक को बचाए रखने की चेष्टा करता हूं।

प्रश्न परलोक का नहीं है, प्रश्न इहलोक का ही है। सवाल पैदा होता है कि न केवल रूस और चीन जैसे दो महान् राज्यों ने आज दिन मार्क्सवाद के व्यावहारिक स्वरूप कम्युनिजम को अपना रखा है बल्कि दूसरे अनेक अन्य देशों में, भारत में भी अनेक लोग इस दिशा में प्रयत्नशील हैं, वे क्यों? इस तरह अनेक बड़े-बड़े देशों की इतनी बड़ी जनसंख्या भी जो कम्युनिजम का विरोध करती है, वह भी क्यों? इस सम्बन्ध में जो यथार्थ प्रश्न है, वह यही है। शेष सारी बातें असली प्रश्न से मुँह छिपाना है।

हम देखते हैं कि वर्तमान समाज के इतिहास का आर्थिक दृष्टि से विश्लेषण करके मार्क्सवाद ने यह दिखाया है कि आज का समाज प्रधान रूप से निम्न-हिस्सों में विभक्त है:—

(१) धन के उत्पादन के साधनों पर जिनका अधिकार है, ऐसे मुट्ठी भर लोग। जगह जमीन सब उन्हीं की, बाग-बगीचे उन्हीं के, कल-कारखाने सब उन्हीं के।

(२) खेतों में काम करनेवाले किसान, बाग-बगीचों तथा कल-कारखानों में काम करनेवाले बहुसंख्यक मजदूर ।

(३) अपनी बुद्धि से पहले वर्ग की सेवा करके पेट पालने वाले थोड़े से बुद्धिजीवी लोग ।

दुनियां में मार्क्सवाद का आविर्भाव होने से पहले सब लोग यही मानते और समझते थे कि किसी भी किसान या मजदूर को जो भी मजदूरी मिलती है, वह उसकी मेहनत का उचित मेहनताना होता है। इसी प्रकार किसी भी बुद्धिजीवी को जो भी वेतन मिलता है, वह वेतन भी उसका उचित मेहनताना होता है। मार्क्स ने ही यह बात स्पष्ट रूप से प्रमाणित की कि ऐसा मानना निराधार है ! मार्क्सवाद ने यह बात शीशे की तरह साफ कर दी कि किसी भी किसान या मजदूर को जो भी मजदूरी दी जाती है, उसका उसकी मेहनत से किसी भी तरह का सम्बन्ध नहीं होता, उसे जो कुछ भी दिया जाता है, वह केवल इसलिए दिया जाता है कि यदि वह न दिया जाए, तो वह विना कुछ भी खाए पिए अगले दिन भी काम न कर सकेगा, ताकि दूसरे दिन भी उससे कुछ काम लिया जा सके। इसीलिए उसे उसकी मजदूरी दी जाती है, ठीक वैसे ही जैसे किसी बैल या घोड़े को चारा।

जो बातें मजदूरों और किसानों पर लागू हैं, ठीक वही बात उन सफेदपोश बाबुओं पर लागू है, जो अपने को भ्रमवश किसान-मजदूरों से बहुत भिन्न समझते हैं। मार्क्सवाद का कहना है कि जनता के कल्याण के लिए समाज के इस स्वरूप में आमूल परिवर्तन होना चाहिए। आज अधिकांश लोग मार्क्सवाद की इस स्थापना से सहमत हैं। प्रश्न है कि यह परिवर्तन कैसे लाया जाए ? क्या ठीक उसी प्रकार जैसे रूस और चीन में क्रान्ति हुई है ? क्या उस क्रान्ति का जो कुछ परिणाम हुआ है, वह सभी दृष्टियों से उपादेय है ? क्या भारतीय समाज में ऐसा ही कोई असाधारण परिवर्तन लाने का कोई और भी रास्ता है ? यह ऐसे कुछ प्रश्न हैं, जिसका सही उत्तर निश्चयात्मक रूप से कुछ लोगों के लिए मार्गदर्शक सिद्ध हो सकता है।

जो कुछ रूस और चीन जैसे सुदृढ़ देशों में हुआ है, उसके बारे में भिन्न-भिन्न वर्गों के लोगों की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएं हुई हैं। उक्त तीनों वर्गों में से पहले वर्ग के अन्तर्गत जिन लोगों की गिनती की गई है, वे उसके सर्वथा विरोधी रहे हैं। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत अधिकांश लोग इसके समर्थक रहे हैं।

दूसरे ही वर्ग के अन्तर्गत गिने जाने वाले कुछ लोगों ने प्रथम वर्ग के लोगों का साथ दिया है और परिवर्तन के मार्ग में बाधक भी सिद्ध हुए हैं। तीसरे वर्ग के अन्तर्गत गिने जाने वाले लोग दो हिस्सों में बटें हैं (१) जो लोग बुद्धिमान् होने के साथ-साथ ईमानदार भी थे और जिनके दिलों में गरीब जनता की हितकामना थी, वे सब इस परिवर्तन के समर्थक बन गए। उन्होंने ऐसा परिवर्तन लाने के लिए अनेक कष्ट भी सहन किए।

लेकिन इसमें भी सन्देह नहीं कि कुछ बुद्धिमान् लोग इस प्रकार के परिवर्तन के विरोधी रहे हैं और हैं। कोई कह सकता है कि वे या तो उतने ईमानदार नहीं रहे, जितना उन्हें होना चाहिए था। या कि उनमें गरीब जनता के लिए उतनी दया की भावना ही नहीं रही, जितनी उनमें होनी चाहिए थी। किन्तु यह भी हो सकता है कि उनमें समाज की दुर्व्यवस्था के सही कारणों को समझने की तमीज ही न रही हो।

आज हम रूस की और चीन की भी क्रान्ति पर एक ऐतिहासिक दृष्टि से सोचने की स्थिति में खड़े हैं। दोनों देशों ने यह क्रांति इस भूमिका के साथ की कि एक खास समय तक वहां वर्ग-विशेष का शासन रहेगा, उसके बाद वहां वर्ग-विहीन समाज स्थापित हो जाएगा। दूसरी भूमिका यह रही कि दोनों देशों में किसान-मजदूरों का राज्य रहने के कारण दोनों देशों के आपसी स्वार्थ कभी भी आपस में टकराएंगे नहीं।

दोनों देशों में से वह अन्तरिम काल आज भी समाप्त नहीं हुआ है। और यह भी ज्ञात नहीं कि वह अन्तरिम काल कब तक रहेगा, क्योंकि आज तक न मार्क्स ने, न लेनिन ने और न माओ ने ही कभी इस अन्तरिम काल की सीमा निर्धारित की है। दूसरा मार्क्स का जो यह कथन था कि ऐसे दो देशों में जहां सोवियत शासन की स्थापना हो गई हो, कभी किसी प्रकार का संघर्ष हो ही नहीं सकता, यथार्थ सिद्ध हो गई प्रतीत होती नहीं है। न केवल चीन और भारत का सीमा-विवाद उग्ररूप धारण कर चुका है, बल्कि रूस और चीन के सीमा विवाद भी उग्ररूप धारण किए हैं।

दोनों देशों में—रूस में भी तथा चीन में—भी संगठित शस्त्रबल से ही अपेक्षित परिवर्तन लाए गए हैं। कहा नहीं जा सकता कि संगठित शस्त्रबल के बिना ही अपेक्षित परिवर्तन लाया जा सकता है या नहीं? यदि भारत में लाया जा सके तो भारत का यह अनुभव विश्वभर का रास्ता प्रशस्त कर सकता है।

मार्क्सवाद केवल दार्शनिक चिन्तन परम्परा ही नहीं है। उसका एक व्यावहारिक पक्ष भी है और यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि वह व्यावहारिक पक्ष कम्युनिज्म ही है। जिस रूस तथा चीन दोनों राज्यों में कम्युनिस्ट शासन पद्धति चालू है, उनकी जितनी प्रशंसा सुनने-पढ़ने को मिलती है, उतनी ही निन्दा भी। इसका क्या कारण हो सकता है? हो सकता है कि यह छोटी सी कथा इस विषय को कुछ स्पष्ट करे।

दो भाई थे। छोटे भाई ने बड़े भाई से कहा—'मुझे कुछ रुपये दो, मैं व्यापार करूँगा।

बड़े भाई ने छोटे भाई से कहा 'रुपये तो मैं तुम्हें दे दूंगा, लेकिन मैं तुम से ९ प्रतिशत सूद लूंगा'।

छोटा भाई बोला—'जरा सोचो तो सही, स्वर्ग-लोक में बैठा भगवान् देखेगा तो क्या कहेगा कि तुम अपने भाई से ९ प्रतिशत सूद ले रहे हो।'

बड़ा भाई बोला—भगवान् की चिन्ता न करो। वह ऊपर से देखेगा तो समझेगा कि मैं तुम से ६ प्रतिशत सूद ले रहा हूं।

ऊपर से देखने से (९ का अंक (६) सा दिखाई देता ही है।

ऐसा लगता है कि रूस और चीन के साथ आज यही बीत रही है। जो गरीब लोग है, उनकी दृष्टि में उत्तरोत्तर उन्नति पथ पर अग्रसर होते हुए दोनों राष्ट्र 'दिव्य लोक' के समान हैं और जो लोग न जाने कब से गरीबों का शोषण करने के अभ्यस्त अत्यन्त बन चुके हैं, उनकी दृष्टि में ये दोनों राष्ट्र नरक के समान हैं।

कलकत्ते में कुछ लोग हैं, जो पचास-पचास या सौ-सौ रिक्शाओं के मालिक हैं। उन रिक्शाओं को जो लोग खींचते हैं, उन्हें अपने उन रिक्शाओं के मालिकों को २) या ३) रोज़ देने पड़ते हैं। वे स्वयं मुश्किल से दिन में ४) या ५) कमाते हैं। उन ४) या ५) में से २) या ३) अपने मालिकों को दे चुकने के बाद उनके पास बचते हैं मुश्किल से २) या ३)। सारा दिन कड़कड़ाती धूप और बरसते पानी में भी रिक्शा खींचने वाला कुली तो कमाता है २) या ३) मात्र। लेकिन निठल्ला बैठे रहने वाला, उन रिक्शों का मालिक शाम तक कमा लेता है सौ रु० या दो सौ रुपये। रूस या चीन में ऐसा हराम-खोर आदमी

सींखचे के भीतर बैठा है। अब यदि एक रिक्शा खींचने वाला मजदूर और रिक्शों का मालिक दोनों ही रूस या चीन जाएं तो क्या दोनों की प्रतिक्रिया समान होगी ? कभी नहीं।

मजदूर जब वहां जाकर देखेगा कि वहां बेकारी नहीं और हर काम करने वाले को अच्छी तरह जीने लायक मजदूरी मिल जाती है और निकम्मे आदमी को कुछ नहीं मिलता तो उसे दोनों देश स्वर्ग मालूम देंगे। दूसरी ओर यदि कोई भी पूंजीपति रूस और चीन में वैसा ही कुछ करने की कोशिश करेगा जो कुछ वह भारत में कर सकता है, या कर रहा है, तो उसे जड़मूल से नेस्त-नाबूद हुआ ही समझें। ऐसी हालत में यह कदापि संभव नहीं कि दोनों वर्गों के दो प्रतिनिधियों की एक ही जैसी राय हो।

१९५६ में जब मैं चीन गया था, तो मैंने पूछा कि आपके यहां क्या इन्कमटैक्स है ? बोले—नहीं। मैंने उन्हें समझाना चाहा। वे बोले—'हम समझबूझ कर उत्तर दे रहे हैं। हमारे यहां भारत में पहले कुछ लोगों को अनापशनाप कमाने की स्वतन्त्रता है। फिर सरकार उन पर इन्कमटैक्स लगाती है। वे इन्कमटैक्स की चोरी करते हैं। बड़े-बड़े वकील इन चोरों को संरक्षण देते हैं। जो जितने बड़े अपराधी को बचाकर उससे जितनी बड़ी फीस लेता है, वह उतना ही बडा Original lawyer माना जाता है। उसके Laweyr होने में सन्देह नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसे ऐसा करने का अधिकार प्राप्त है। उसका criminal होना तो स्पष्ट ही है। कहनेवाले कहते हैं कि रूस और चीन में व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य नहीं है। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि वहां एक बहुत बड़ी संख्या को भूखों मरते रहने और कुछ थोड़े से लोगों को मनचाहा धन अर्जित और उसे मनचाहे ढंग से खर्च करने की स्वतन्त्रता नहीं है। इसी प्रकार की अन्य कई 'व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं' का वहाँ अभाव हो सकता है।

जो लोग अपने को 'धार्मिक' मानते हैं, ऐसे आदमियों के मतों को रूस तथा चीन से विरत करने के लिए जो संगठित प्रयास चालू हैं, उसके चालू रखने वाले दो बातों को बार-बार दोहराते हैं। एक तो यही कि रूस तथा चीन में धार्मिक स्वतन्त्रता नहीं है, दूसरे रूस तथा चीन में 'धर्म' नहीं है। जहाँ तक धार्मिक स्वतन्त्रता की बात है, मैं तो समझता हूं कि इन्हीं दो देशों में सबसे अधिक धार्मिक स्वतन्त्रता है, क्यों कि वहाँ किसी को भी न केवल किसी भी धर्म को मानने की स्वतन्त्रता है, बल्कि हर किसी को किसी भी धर्म को न मानने की भी स्वतन्त्रता है।

और रही 'धर्म' की बात। मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं कि हमारे देश में जहाँ हर रेलवे स्टेशन की हर टिकट बेचने की खिड़की पर लिखा हुआ है कि पाकेटमारों से सावधान रहो, रूस और चीन की अपेक्षा अधिक धर्म है? और रही संगठित धर्म की बात। इन दोनों देशों में आज भी विहार भी हैं, गिरजे भी हैं, मस्जिदें भी हैं। इसी प्रकार भिक्षु भी हैं, पादरी भी हैं, मुल्ला भी हैं। हां, पण्डे-पुरोहित अवश्य वहां नहीं हैं। क्योंकि भारत से बाहर किसी भी देश में हिन्दू धर्म है ही नहीं।

किसी इक्के-दुक्के हिन्दू की बात नहीं। संगठित हिन्दू-समाज की बात है। मैं जब चीन से लौटा तो कलकत्ते में मुझसे एक भाई ने पूछा—'क्या यह सत्य नहीं कि चीन में साधुओं की संख्या में कुछ कमी हो गई है?' मेरा रुख कुछ तीखा था।

'यदि भारत में भी सभी स्वस्थ तरुणों और तरुणियों को उन उनकी योग्यताओं के अनुसार काम उपलब्ध हो तो यहां भी साधुओं और वेश्याओं दोनों की संख्या में कमी हो जाएगी।

श्रीलंका की सरकार कन्युनिस्ट नहीं है। वहां पढ़े लिखे भिक्षुओं को स्कूलों में अध्यापक बना लिया जाता है। वहां भी भिक्षुओं की संख्या घटने लगी है। 'रूस तथा चीन' के विरुद्ध एक विचित्र आरोप यह लगाया जाता है कि वहां के लोग तो कम्युनिज्म के विरुद्ध हैं, किन्तु कम्युनिज्म उन पर जबरदस्ती थोपा गया है। किसने थोपा है? यदि उन लोगों ने स्वयं अपने ऊपर कम्युनिज्म थोपा है तो कौन होते हैं हम बीच में बोलने वाले।

समाज को नियन्त्रित रखने के लिए दोनों प्रकार के नियन्त्रण की आवश्यकता रहती है—धर्म के नियन्त्रण की भी और सरकारी नियन्त्रण की भी। हम लोगों को अहिंसा, अस्तेय आदि के उपदेश देकर उन्हें नियन्त्रण में रखने की चेष्टा करते हैं, लेकिन जो व्यक्ति हमारे धर्मानुशासन के बावजूद मनुष्य हत्या तथा चोरी आदि दुष्कर्म करते हैं, तो क्या हम भी उन्हें राज्य-दण्ड द्वारा अनुशासित रखने का प्रयास नहीं करते?

यह स्वाभाविक ही है कि सोवियत शासन पद्धति के खिलाफ काम करने वालों के लिए दोनों देशों में कड़े राज्य-दण्ड की व्यवस्था हो। सोवियत शासन-पद्धति की मान्यता है कि दुनियां में सभी विपत्तियों का मूल कारण है—

व्यक्तिगत संपत्ति। भगवान् बुद्ध ने भी एक जगह व्यक्तिगत संपत्ति को दुःख का मूल कहा है। व्यक्तिगत संपत्ति का मूल कारण है लाभ या मुनाफा कमाने की इच्छा। मार्क्सवाद की शिक्षा है कि इस मुनाफाखोरी की इच्छा और आदत का मूलोच्छेद कर दिया जाए।

'लाभ' प्राप्त करने की इच्छा या मुनाफाखोरी की इच्छा का मूल क्या है? इस इच्छा का मूल है 'लोभ'। भगवान बुद्ध ने 'लोभ' को एक अकुशल-हेतु माना है। मार्क्स लाभ की जड़ में मट्ठा डालना चाहता है। भगवान् बुद्ध मार्क्स से भी एक कदम आगे बढ़कर लोभ के ही मूल में मट्ठा डालना चाहते हैं। मार्क्स लाभ के विरुद्ध है। भगवान बुद्ध लाभ के भी मूल में जो लोभ है, उसी के विरुद्ध हैं। इन दोनों शिक्षाओं को क्या कहकर परस्पर विरोधी घोषित किया जाए?

१९३२-३३ में मैं धर्म प्रचारार्थ इग्लैण्ड में था। वहां एक तरुण मुझे बीच-बीच में कुछ कम्युनिस्ट साहित्य पढ़ने को दे दिया करता था। जब उसे लगा कि मैं उस साहित्य में कुछ रुचि लेने लगा हूं, तो एक दिन उसने मुझे अपनी कुछ पुस्तकें खरीदने के लिए कहा। मैंने उत्तर दिया—मित्र, तुम्हारी पुस्तकों में व्यक्तिगत सम्पत्ति की निन्दा है। इसे ही सब खुराफातों की जड़ बताया गया है। मैं जिस दिन से भिक्षु बना हूँ, उसी दिन से व्यक्तिगत-सम्पत्ति विहीन हूं। मेरे पास चीवर तथा भिक्षापात्र आदि के अतिरिक्त कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं। खेद है कि मैं इन पुस्तकों को खरीदने में असमर्थ हूं।

यह उत्तर मैंने उसे अनेक वर्षों पूर्व दिया था। आज तो मैं यदि किसी पुस्तक को खरीदना चाहूं तो मजे में खरीद सकता हूँ। यहां इस बात का उल्लेख करने से मेरा अभिप्राय इतना ही है कि लाभ के विरुद्ध किया जाने वाला कम्युनिस्ट संघर्ष तथा लोभ के विरुद्ध किया जाने वाला बौद्ध संघर्ष परस्पर विरोधी नहीं।

जिस प्रकार भिक्षु संघ के किसी भी सदस्य अर्थात् किसी भी भिक्षु के पास उसकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली त्रि-चीवर, भिक्षापात्र आदि आठ चीजें ही उसकी 'व्यक्तिगत सम्पत्ति' हो सकती है, उसी प्रकार सुनते हैं कि साम्यवादी देशों में सैकड़ों-हजारों परिवारों को मिलाकर जो बड़े-बड़े कम्यून बनाए गये हैं, उन कम्यूनों के सदस्यों की व्यक्तिगत संपत्ति भी मर्यादित

ही है। वे अपने निजी उपयोग की चीजों को ही व्यक्तिगत सम्पत्ति मानकर रख सकते हैं। १९५६ में ही हमें चीन के बारे में जानकारी मिली थी कि वहां जितनी दुकानें, जितने कल-कारखाने, जितनी खेती है, वह सब ९५ सैकड़ा "पंचायती" है।

लेकिन हमारे भिक्षु-संघ के सदस्यों अर्थात् भिक्षुओं में जो वस्तुओं का समान विभाजन होता है, उसमें और साम्यवादी देशों के कम्यूनों में समान-विभाजन होता है, उन दोनों में यह मानना पड़ेगा कि एक बड़ा अन्तर है। भिक्षु संघ में केवल उन वस्तुओं का ही समान-विभाजन होता है, जो भिक्षु संघ के सदस्यों को दान में मिलती हैं और कम्यूनों में उन वस्तुओं का अथवा उस धन का उन उन सदस्यों के कार्यों के अनुसार विभाजन होता है। यह धन कम्यूनों के सदस्यों ने अपना पसीना बहाकर अर्जित किया होता है। एक जगह 'दान में प्राप्त धन का समविभाजन है, दूसरी जगह अर्जित धन का सम-विभाजन। दोनों सम विभाजनों में यह निश्चय ही बड़ा अन्तर है।

यदि कभी किसी देश की विचारवान् जनता समाज के स्थायी हित को ख्याल में रखकर विना किसी खून-खच्चर के यह तय कर ले और किसी भी आदमी के पास 'व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रहे, अर्थात् विनोवा जी के ग्राम-दान, या जिलादान या प्रदेश-दान की तरह सारा का सारा देश 'संघं शरणं गच्छामि' हो जाए, तो निश्चय ही इससे 'दाताओं' और हमारे जैसे दान ग्रहण करने वालों का भेद मिट जाएगा। जव कभी ऐसा स्वर्ण विहान उदय होगा कि किसी के भी पास दान देने के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रहेगी और हर किसी के पास इतनी व्यक्तिगत सम्पत्ति रहेगी कि उसे किसी से भी दान लेने की जरूरत नहीं रहेगी, तो हम ऐसे दिन की आरती उतारेंगे।

किसी ने कहा है कि आज दिन पसीने की कमाई से तो आदमी का पेट नहीं भरता, यह जो हजारों लाखों के दान दिये-लिये जाते हैं, ये सब तो ऐसी वैसी ही कमाई की फुलझड़ियां है। ऐसा स्वर्ण विहान उदय होगा तो यह दोनों की फुलझड़ियां छूटनी बन्द हो जाएंगी। लोग पूछते हैं कि देश में ऐसा साम्यवाद स्थापित हो गया, तो विनोवा जी के ग्राम-दानों, राज्य-दानों का क्या होगा? यदि इन दोनों का उद्देश्य समाज में आर्थिक समत्व लाना है तो इनका उद्देश्य पूरा हो जाएगा और यदि इनका उद्देश्य समाज में आने वाले समत्व को उपायकौशल से रोकना भर है, तो ढोंग समाप्त हो जाएगा।

प्रश्न पूछा जा सकता है कि तब बौद्ध-धर्म और मार्क्स-वाद का आपसी सम्बन्ध क्या समझा जाए ? क्या ये दोनों एकदम एक हैं, अथवा परस्पर विरोधी हैं ? बौद्ध-दर्शन की शब्दावली में कहा जा सकता है—"न च सो न च अञ्ञो।" न एकदम एक हैं और न परस्पर विरोधी हैं। दोनों में अन्तर है। हम यह कभी नहीं कह सकते हैं कि "बौद्ध-धर्म मार्क्सवाद है और मार्क्सवाद बौद्ध धर्म है।"

यदि मार्क्सवाद केवल आर्थिक-समानता का धर्म है, तो आज के विश्व की विशेष परिस्थिति में बौद्ध-धर्म शान्ति-वाद को अग्रसर करने का तथा भारत की विशेष परिस्थिति में सामाजिक समतावाद को भी लाने का धर्म है। इतना अवश्य कह सकते हैं कि यदि किसी मार्क्सवादी का कोई धर्म हो सकता है तो वह केवल बौद्ध धर्म हो सकता है और यदि किसी भी धर्म का कोई अनुयायी मार्क्सवादी बन सकता है, तो बौद्ध उनमें सबसे आगे रहेगा।

आर्थिक-समता और सामाजिक-समता की स्थापना होनी ही चाहिए और यह स्थापना शान्तिपूर्ण ढंग से हो जाए इसी में सबका कल्याण हैं। किन्तु यदि ऐसा कार्यक्रम अपनाया जाने पर किसी को कुछ असुविधा हुई तो उसकी जिम्मेदारी उन्हीं लोगों पर होगी, जो लोग इस रास्ते के रोड़े बनने की कोशिश करेंगे।

यदि बड़े भाई को भाई मान लिया जाए तो फिर छोटे भाइयों को पृथक् रूप से भाई मानने की आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार यदि सभी प्राणियों के कल्याणार्थ उपदिष्ट विश्व शान्ति के आग्रही, सामाजिक तथा आर्थिक दोनों प्रकार की समानता को एक साथ अग्रसर करने वाले बौद्ध धर्म को अपना लिया जाए तो फिर मार्क्सवाद को पृथक् से अपनाने की आवश्यकता नहीं रहती।

बौद्धधर्म और मार्क्सवाद किसी भी तरह परस्पर विरोधी वाद नहीं हैं। परस्पर भाई-भाई हैं। बौद्ध धर्म बड़ा भाई, मार्क्सवाद छोटा।

शान्तिपूर्ण उपायों से आर्थिक ही नहीं, सामाजिक समता की भी स्थापना करने के बुद्धिगम्य प्रयासों का नाम बौद्ध धर्म है।



मार्क्सवाद बौद्ध दर्शन को स्पष्ट करता है

भिक्षु जगदीश काश्यप

'सभी धर्म अनित्य और अनात्म हैं'—बौद्ध दर्शन का यही हृदयभूत सिद्धान्त है। भगवान् बुद्ध ने इसे सम्यग् दृष्टि के नाम से पुकारा है। कार्लमार्क्स ने भी इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया है। उसने इसे डाइलेक्टिकल मेथड (Dialectical Method) के नाम से पुकारा है। इसे बुद्ध ने प्राचीन भाषा और शैली में पुरानी उपमाओं से समझाया है। कार्लमार्क्स ने इसे आधुनिक भाषा और शैली में आधुनिक उपमाओं से समझाया है। आधुनिक विज्ञान की खोजों के प्रकाश में उदाहरण देकर समझाया है। हम यहाँ इसी बात को संक्षेप में लिख रहे हैं।

(क) अनित्यवाद

बुद्ध ने इसे तीन उपमाओं से समझाया है—प्रदीप शिखा की उपमा से, दूध जमकर दही हो जाता है, इस उपमा से और छोटा बच्चा बढ़कर जवान हो जाता है इस उपमा से। मिलिन्दप्रश्न में इन तीन उपमाओं का उल्लेख है। त्रिपिटक के ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख आता है।

प्रश्न होता है कि पहले प्रहर की रात की प्रदीप शिखा वही है जो दूसरे प्रहर में है? इसका बौद्ध उत्तर यह है कि यह न तो वही है और न उससे सर्वथा भिन्न। एक ही सन्तति में दो अवस्थाएँ हैं। फिर, क्या दही वही है जो दूध था? इसका भी बौद्ध उत्तर यही है कि वह न तो वही है और न उससे सर्वथा भिन्न।

फिर, जवान आदमी क्या वही है जो बच्चा था? इसका भी बौद्ध उत्तर यह है कि वह न तो वही है और न उससे सर्वथा भिन्न।

कार्लमार्क्स ने ठीक यही तीन उपमाएँ देकर अनित्यवाद का सिद्धान्त दर्शाया है। उसने यह बताया कि प्रदीप शिखा की उपमा भौतिक शास्त्र की उपमा है, दूध से दही की उपमा रसायन शास्त्र की उपमा है और बच्चा से जवान की प्राणी शास्त्र की उपमा है। (V. Afanasyer : Marxist philosophy P. 63)

(ख) अनात्मवाद

अनात्मवाद यह मानता है कि जितनी वस्तुएँ हैं, सभी अनेक अवयवों से बनी हैं, ऐसी कोई चीज नहीं है जो शुद्ध हो। एक अनेक में व्यक्त होता है, और अनेक एक की अभिव्यक्ति करता है। कार्लमार्क्स भी यह स्वीकार करता है। आधुनिकतम विज्ञान यही बताता है। मार्क्स विज्ञान का अनुसरण कर यह बताता है कि परमाणु नाम की भी कोई अन्तिम सत्ता नहीं है, किन्तु परमाणु के भीतर भी वैसी ही प्रक्रिया चल रही है, जो विश्व में हो रही है। उसके भीतर और उसके भी भीतर और उसके भी भीतर ऐसी प्रक्रिया चल रही है।

(ग) प्रतीत्यसमुत्पाद

बौद्ध दर्शन का यह सिद्धान्त यह मानता है कि सभी अनित्य और अनात्म धर्म परस्पर आश्रित हैं। उनकी एक शृंखला है। माध्यमिककारिका बताती है कि सभी धर्म प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं। ऐसा कोई भी धर्म नहीं है जो प्रतीत्यसमुत्पन्न न हो। (माध्यमिक शास्त्र Chap. XXIV—कारिका १९)। मार्क्सवाद भी ठीक इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है (V. Afanasyer : Marxist Philosophy P. 87)

(घ) संसार का विस्तार

बुद्ध ने बताया है कि संसार का कोई अगला छोर नहीं है—"अनमतग्गोयं भिक्खवे, संसारो" (संयु०, २ पृ० १५१, १५७, ३६५)। मिलिन्दप्रश्न में यह मुर्गी और अण्डे की उपमा से समझाया गया है। पहले मुर्गी हुई या पहले अण्डा हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। मुर्गी से अण्डा हुआ और अण्डे से मुर्गी हुई। इस प्रकार दिक् और काल दोनों दृष्टि से संसार आदिरहित है। मार्क्सवाद भी यही बताता है। (V. Podosetnik, O. yakhot : A Brief Course of Dialec ical Materialism—p. 39)

दिक् और काल दोनों परस्पर आश्रित हैं। बौद्ध दर्शन में इसका जो स्वरूप माना गया है, ठीक वही मार्क्सवाद भी मानता है। दिक् और काल को अन्य दर्शन तात्त्विक मानकर बड़ी भूल करते हैं और तरह तरह के भ्रामक प्रश्न उठाते हैं:—

क्या लोक शाश्वत है या अशाश्वत ?

क्या लोक अन्तवान् है या अनन्त ?

इत्यादि इत्यादि।

भगवान् बुद्ध ने इन प्रश्नों को अव्याकृत बताया है। ये प्रश्न सत्कायदृष्टि पर आश्रित हैं। इसलिये इनका उत्तर न तो हाँ और न ना से दिया जा सकता है। अनित्यवाद, अनात्मवाद और प्रतीत्यसमुत्पादवाद को समझ लेने से ये प्रश्न ही नहीं उठते। बुद्ध की इस दृष्टि को कुछ लोगों ने बुद्ध का मौन बताया है। किन्तु यह बुद्ध का मौन नहीं है। सारे त्रिपिटक में ऐसा कोई स्थल नहीं है, जहाँ किसी के कुछ प्रश्न करने पर भगवान् ने चुप्पी लगा दी हो।

मार्क्स ने इसी सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए बताया है कि तत्त्ववाद पर आश्रित सत्कायदृष्टि से ऐसे भ्रामक प्रश्न होते हैं, जिनका निराकरण तभी हो सकता है, जब सम्यग् दृष्टि (Dialctical Method) के स्वरूप को भली भाँति समझ लिया जाए।

यहाँ हमने बुद्ध और मार्क्स की दार्शनिक दृष्टि की ही संक्षिप्त तुलना की है। दूसरे पक्षों में भी इस तरह की तुलना की जा सकती है।



ये केचिद् दुःखिता लोके सर्वे ते स्वसुखेच्छया।
ये केचित् सुखिता लोके सर्वे तेऽन्यसुखेच्छया॥

(बोधिचर्यावतारः ८:१२९)

बौद्धदर्शन और मार्क्सवाद : विरोध एवं सम्भावनाएँ

जगन्नाथ उपाध्याय

बौद्ध विचार २५ सौ वर्षों से विकसित एक ऐसा विशाल दर्शन है, जो काल की दृष्टि से प्राचीनतम और वैचारिक उत्कर्ष की दृष्टि से सारे विश्व में बेजोड़ है। यह व्यापकता में मानव जीवन की आन्तर-बाह्य समस्याओं को अधिकाधिक स्पर्श करता है। एक ओर वह व्यक्ति, समाज, धर्म और नीति एवं जीवन के दृश्य एवं अदृश्य उद्देश्यों का विवेचन करता है तथा उनके परस्पर सम्बन्धों का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करता है; दूसरी ओर अपने तीक्ष्ण तर्कों से अपने विपक्षियों द्वारा समाज और धर्म के क्षेत्र में फैलाए गए मिथ्या विश्वासों, मिथ्या और रूढ़ कर्मकाण्डों का विरोध करता है। इस प्रकार उसका दार्शनिक आयाम विशाल एवं विविध है। उसकी तुलना में हिगेल, मार्क्स और एंगेल्स आदि द्वारा लगभग दो सौ वर्षों से विवेचित मार्क्सवाद अनतिविस्तृत अभी एक लघुकाय दर्शन है। शास्त्रीय गरिमा की दृष्टि से इन दोनों में महान् अन्तर है। मार्क्सवाद द्वन्द्वात्मक प्रणाली से समाज का सूक्ष्मतम अध्ययन प्रस्तुत करता है, जिससे समाज में व्याप्त वर्ग स्वार्थ एवं वर्ग संघर्ष की यथार्थता स्पष्ट होती है। इसके निष्कर्ष से समाज, राज्य और अर्थव्यवस्था को दूरगामी उद्देश्य प्राप्त होता है और पीड़ित मानवता को भविष्य में सुख, समता एवं शान्तिमय जीवन के लिए सान्त्वना मिलती है। किन्तु यह अति-यथार्थवाद है, जिसमें आदर्शवाद, भावपरायणता तथा पौराणिकता के लिए स्थान नहीं है, जो प्राचीन होने के कारण प्रारम्भ से ही बौद्ध धारा में हैं। इस परिस्थिति में प्राक्कालीन बौद्धदर्शन के साथ आपाततः आधुनिक मार्क्सवादी दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन संगत नहीं प्रतीत होता। वास्तव में शास्त्रीय समस्याओं की दृष्टि से इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करना सम्भव भी नहीं है, किन्तु दोनों का एक ऐसा भी मिलन स्थान है, जहां से हम वर्तमान मानवीय समस्याओं का अध्ययन कर सकते हैं, जिसमें उन दोनों दर्शनों से यथासम्भव सहायता ली जा सकती है। मानव का सर्वोत्कृष्ट महत्त्व स्वीकार करना ही उन दोनों

का वह समान विचार-विन्दु है, जहां से दोनों दर्शनों में अनेकानेक समानताएं दृष्टिगत होने लगती हैं।

समान उद्देश्य : समता

इन दोनों मतों में जीवन का कोई भी तत्त्व स्थिर एवं शाश्वत नहीं है। बौद्धों के मत में कार्य-कारण-भाव का सिद्धान्त सर्वोपरि है। वह जीवन और जगत् दोनों पर समान रूप से लागू है। इन दोनों मतों में कार्य-कारण से परे ईश्वर, आत्मा आदि किसी अदृश्य एवं नित्य वस्तु की सत्ता नहीं है। दृश्य जगत् में किसी स्थिर वस्तु की सत्ता भी मान्य नहीं है। मार्क्सवाद जडाद्वैतवाद है, वह जड से ही चेतन सत्ता का उद्भव मानता है, किन्तु बौद्ध दार्शनिक जड-चेतन उभय को अनित्य एवं बहुत दूर तक उनमें सहवर्त्तित्व का सिद्धान्त मानकर दोनों के विरोध को कम कर देते हैं। दोनों का समान लक्ष्य समता है। समता का यह सिद्धान्त दोनों ने ही अपने विचार-क्षेत्रों में कार्य-कारणभाव सिद्धान्त के दार्शनिक निष्कर्षों से प्राप्त किया है। दोनों की यह महान् विशेषता है। अनेक दार्शनिक मतभेदों के होते हुए भी मनुष्य-जीवन के सम्बन्ध में दोनों का समान दार्शनिक दृष्टिकोण इस बात की सम्भावना प्रस्तुत करता है कि व्यक्ति और समाज का समग्र रूप से विश्लेषण करके देखा जा सके कि आज की सामाजिक समस्याओं में उनके भीतर कार्य-कारणभाव के व्यापक नियम किस प्रकार काम कर रहे हैं। इस प्रकार के विश्लेषण के आधार पर व्यक्ति, समाज और राज्य की अगली दिशा का संकेत भी प्राप्त किया जा सकता है।

समाज में समता की प्रतिष्ठा के लिए बुद्ध ने उन सभी दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों का खण्डन किया, जिसके आधार पर तत्कालीन समाज में अभिजात-वर्ग का स्वार्थ प्रतिष्ठित था और उसके द्वारा सामान्य जन को सभी श्रेष्ठ लाभों से वंचित कर दिया गया था। बौद्ध विचारों का उद्गम अपने समसामयिक सामाजिक एवं वैचारिक असंगतियों तथा अव्यवस्थाओं से उत्पन्न असन्तोषों के बीच हुआ। यह ठीक है कि इन विचारों का उद्भव भारतीय समाज के अनुबन्ध में ही हुआ, किन्तु उसकी यह विशेषता रही कि उसका लक्ष्य विश्वव्यापी मानव समस्याएं थीं। बुद्ध ने आत्मा, ईश्वर, शब्द-प्रामाण्य, ग्रहनक्षत्र-विद्या आदि, जो सामान्य जनता को अपनी जटिलताओं में उलझाए हुए थे, उनके अस्तित्व को मानने से इनकार कर दिया और उनकी जगह मनुष्य के व्यक्तित्व तथा उनके सामाजिक सम्बन्धों को नया आदर्श एवं नया उत्कर्ष

प्रदान किया। उन्होंने संघ और समाज में कुल-विशेष या जाति-विशेष की जगह बहुजन का महत्त्व तथा संघ की पवित्रता, धर्म में स्त्रियों को प्रायः पुरुषों के समान ही अधिकार, सर्वसाधारण के लिए शिक्षा और आध्यात्मिक उपलब्धियां प्राप्त करने की मान्यताएं प्रतिष्ठित कीं। उन्होंने बड़ी निर्भीकता से वर्ण-व्यवस्था, अभिजात्य-सिद्धान्त का तथा विभिन्न प्रकार की जातिवादी प्रवृत्तियों का विरोध किया, जिससे आज से ढाई हजार वर्ष पहले एक ऐसी समाज-व्यवस्था की सम्भावना बढ़ी, जिसमें मनुष्य अपनी योग्यता और श्रम के आधार पर सामाजिक लाभ एवं प्रतिष्ठा प्राप्त कर सके। यह सब बुद्ध ने उस विवशता की स्थिति में किया, जब तत्कालीन सामन्त और पुरोहितों ने अपने ऐहिक और पारलौकिक भोग-विलास के लिए जन-जीवन को तेजोहीन और सर्वथा अपने अधीन बना दिया था। बुद्ध ने यज्ञों, व्रतों और उत्सवों का खण्डन सिर्फ इसलिए नहीं किया कि वे उनकी दृष्टि में तर्क-विरुद्ध, काल्पनिक एवं रहस्यात्मक थे, बल्कि इसलिए भी कि इनका संगठन समाज की विषमतापूर्ण अर्थव्यवस्था पर प्रतिष्ठित था। यज्ञादि का अनुष्ठान सामन्तों और पुरोहितों के राज्य-विस्तार एवं प्रभाव-विस्तार का साधन था। वास्तव में यज्ञादि सामन्तों के शक्ति-संग्रह, राज्य-विस्तार एवं विजयोल्लास का धार्मिक माध्यम था। एंगेल्स ने कैथोलिक चर्चों के लिए जो कहा था, वह यज्ञों में भी पूरा का पूरा घटता है, यह कि चर्चों ने सामन्ती संस्थाओं के चारों ओर ईश्वरीय पावित्रता का प्रभा-मण्डल बैठा रखा था।

नई व्याख्या के लिए अवसर

हमें यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् बुद्ध के विचार और उनका पूरा आन्दोलन एक प्राचीनतम समाज की रूढ़ व्यवस्थाओं के अन्तर्गत विस्फोट था, जिसका चतुर्दिक् वातावरण परम्परागत रूढ़ियों एवं धार्मिक विश्वासों से भरा हुआ था। किसी भी आन्दोलन का पूर्ववर्ती सभी विश्वासों से अछूता रहना सम्भव नहीं है और न तो नितान्त अपेक्षित ही है। इस स्थिति में इस तथ्य को स्वीकार करना चाहिए कि बौद्ध विचारों के विकास में भी पौराणिक विश्वासों और अतिशयोक्तिपूर्ण विशिष्ट शैलियों की उपलब्धि का कुछ सम्बन्ध जोड़ा गया है। इसलिए जब हम बुद्ध के क्रान्तिकारी विचारों की बात करें, तब बड़ी सतर्कता से उन्हें पौराणिकता से अलग रखें, क्योंकि किसी भी स्थिति में बौद्ध विचारों ने अपने को रूढ़ परम्परावाद और अलौकिक प्रामाण्यवाद से मुक्त रखा है। यह स्पष्ट है कि हजारों वर्ष पुराना विचार

आधुनिक नवीन परिस्थितियों में सर्वथा लागू नहीं हो सकता। किसी प्राचीन विचार की क्रान्तिकारिता का निर्णय इस पर निर्भर है कि उसमें नयी परिस्थितियों में प्रगतिशील विचारों के लिए या उसकी नयी व्याख्या करने के लिए कितना अवकाश है। बौद्ध दर्शन के हजारों वर्ष के इतिहास से यह ज्ञात होगा कि इस दृष्टि से वह बहुत ही उर्वर है। यही कारण है कि आज के सन्दर्भ में भी उसमें अन्य धर्मों की अपेक्षा अधिकाधिक क्रान्तिकारी विचारों के पुष्ट स्रोत मिलते हैं। अन्य धर्मों से इसकी भिन्नता इसलिए भी है कि इसकी नीति और आचरण व्यवस्था के पीछे एक ठोस दर्शन है। एक ओर वह पूर्व प्राप्त विश्वासों के परीक्षण और खण्डन के लिए क्षमता प्रदान करता है, दूसरी ओर नये-नये सत्यों के अन्वेषण के लिए नयी खोज और नयी व्याख्याएँ प्रस्तुत करने का अवसर देता है। जो नीति या शील प्रज्ञा से परीक्षित एवं समर्थित नहीं है तथा शुद्ध व्यावहारिक प्रेरणाओं से अनुमोदित नहीं है, उसे कोई भी बौद्ध प्रस्थान शील या नीति का स्थान देने को तैयार नहीं है। धर्म के क्षेत्र में प्रज्ञा का यह प्रकर्ष भगवान् बुद्ध की सर्वश्रेष्ठ देन है, जबकि अन्य धर्मों या दर्शनों का प्रधान लक्ष्य पुरातन काल से माने हुए सत्यों का प्रायः पुष्टीकरण होता है। एक और भी बात है, जिससे बौद्ध दर्शन भौतिकवादी या शाश्वतवादी न होकर अध्यात्मवादी और मानववादी बन सका, वह है—'करुणा' को सर्वोत्कृष्ट मानवीय मूल्य के रूप में स्वीकार करना। बौद्धों की यह 'करुणा' केवल हृदय की ऋजुता से सम्बन्धित दयामात्र नहीं है, बल्कि वह घोर क्रिया-शक्ति है, जो कर्तव्य परायणता के उत्कर्ष के साथ साथ प्रज्ञा से अभिन्न होती है। इस स्थिति में किसी प्रकार प्रज्ञा निष्क्रिय नहीं, और क्रिया प्रज्ञाहीन नहीं रह जाती। करुणा के इस विकास क्रम में उत्तरोत्तर सभी प्रकार के अन्ध-विश्वास, रूढिवाद, आसक्ति या पक्षपात की आशंका कम होती जाती है।

आर्थिक विषमता और बुद्ध

यह ठीक ही है कि समाज से आर्थिक विषमता दूर करने के लिए बुद्ध ने कोई वैज्ञानिक व्यवस्था नहीं दी। सम्भवतः उस युग में उनका ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट भी नहीं हो सकता था और न यह स्पष्ट था कि सामाजिक एवं धार्मिक वैषम्य के मूल में अर्थ-व्यवस्था का इतना गहरा प्रभाव है। किन्तु तत्कालीन परिस्थिति में इस तथ्य से वह सर्वथा अपरिचित भी नहीं थे, अन्यथा उनके द्वारा जीविका और अर्थ के आधार पर भी वर्णव्यवस्था का खण्डन

करना, सम्भव न होता। मार्क्स ने भगवान् बुद्ध से बहुत कुछ मिलते हुए विचारों को सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में कार्यान्वित करने की एक वैज्ञानिक प्रणाली प्रस्तुत की है। बौद्ध विचारधारा को आधुनिक समाज में प्रभावकर बनाने के लिए मार्क्सवाद से उसे बहुत कुछ लाभ मिल सकता है। स्पष्ट है कि मार्क्सवाद अनेक अन्तर्विरोधों और दार्शनिक रिक्तताओं के कारण मानव-जीवन को पूर्णतः आप्यायित एवं कृतार्थ नहीं कर पा रहा है। इस स्थिति में बुद्ध की जीवन-दृष्टि तथा बौद्ध-परम्परा के सुपुष्ट दर्शन से कुछ मार्क्सवादी निष्कर्षों का सम्बन्ध जोड़कर एक अधिक सुसगंत जीवन-दृष्टि का विकास करना असम्भव नहीं है। इस दिशा में आकर्षण तब और बढ़ जाता है, जब हम देखते हैं कि बुद्ध ने सामन्तों, राजाओं एवं तत्कालीन राज्य व्यवस्था को महत्त्वहीन किया। इसके पीछे शोषण से प्राप्त सम्पत्तिमूलक विलासिता और जाति, कुल एवं लिंग भेद के आधार पर प्रतिष्ठित अधिकार तथा कर्तव्य की अमानवीय व्यवस्था का विरोध था। वास्तव में प्रधान रूप से भगवान् बुद्ध के विचार और कार्य का क्षेत्र धार्मिक और सामाजिक था, किन्तु अर्थव्यवस्था एवं राज-व्यवस्था उससे प्रभावित हुई। क्या आज भी यह ठीक नहीं है कि उन सामाजिक एवं धार्मिक मान्यताओं से विद्रोह किए बिना नयी राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था सफल नहीं हो सकती, जो समाज में कुछ लोगों के स्थिर स्वार्थ के समर्थन में चरितार्थ हो रही है। इस युग में भी जन-जीवन को रहस्यों, विश्वासों और स्थिर सामाजिक व्यवस्थाओं के जाल में बझा रखा गया है। उस से जनता को निकाल कर उसमें एक प्रकार से सनातन काल से जमाई हुई आस्था को अमानवीय एवं तर्कहीन सिद्ध करना तथा स्वतन्त्र सर्जनशीलता के लिए अव्याहत अवसर प्रस्तुत करना एक महान् कार्य है। अब इस दिशा में मार्क्सवादी विचार भी आज हमारे सहायक हैं। भगवान् बुद्ध तथा विकसित परवर्ती बौद्ध विचारधारा अनेकानेक अंशों में मार्क्सवाद के बहुत कुछ अनुकूल है। इसमें आश्चर्य की बात नहीं कि एक समान उद्देश्य दो भिन्न पृष्ठभूमि में विकसित विचारधाराओं को कहीं परस्पर समन्वित कर सके। जाति एवं वर्णों का तथा आभिजात्यवाद का खण्डन, संघ, गणतन्त्र, बहुजनवाद, लोकभाषा, सर्वशिक्षा आदि का समर्थन सारी बौद्ध परम्परा को किसी भी प्रगतिशील नयी आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल करता है। पचीस सौ वर्ष पहले इन विचारों का प्रस्थापित करना एवं उसका व्यापक विस्तार करना, तत्कालीन प्रतिक्रिया-वादियों के प्रचण्ड विरोधों का मुकाबला करते हुए अपनी धार्मिक व्यवस्था में पूर्णतः तथा समाज में अंशतः समतावादी विचारों का सफल प्रयोग करना

बुद्ध की महान् क्रान्तिकारिता थी। मार्क्स ने बुद्ध से बहुत कुछ मिलते हुए विचारों को सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में कार्यान्वित करने की एक वैज्ञानिक प्रणाली प्रस्तुत की है। इस स्थिति में बुद्ध की जीवन-दृष्टि तथा बौद्ध परम्परा के सुपुष्ट दर्शन से मार्क्सवाद का सम्बन्ध स्थापित कर देना विचारकों का एक महान् कार्य होगा।

कार्यकारणभाव: सम्भूयकारित्व एवं सम्भूयसमुत्थान

बौद्ध-विचारधारा की रीढ़ उसका कार्यकारण भाव का नियम है। उससे 'सम्भूय-कारित्व' का सिद्धान्त प्रतिफलित होता है। सम्भूयकारित्व से अभिप्राय है कि संसार के स्थूल या सूक्ष्म किसी भी घटना या कार्य के पीछे अनेकानेक अन्योन्याश्रित कारण या परिस्थितियाँ वर्तमान रहती हैं। उन्हीं के विभिन्न संयोजनों पर उस कार्य या घटना की नैतिकता, अनैतिकता का भी निश्चय होता है। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि जीवन या समाज की कोई भी प्रस्थापना अपने में स्वतन्त्र या अपरिवर्तनीय नहीं है। इस प्रकार बौद्धों के कार्य-कारण सिद्धान्त से एक प्रगतिशील नवीन-जीवन पद्धति का संकेत मिलता है, जिससे व्यक्ति और समाज दोनों को विकास करने का ऐसा यथार्थ एवं तर्कसंगत मार्ग मिलता है, जिसकी उत्तरोत्तर परिणति समानता में हो। उपर्युक्त सम्भूय-कारित्व सिद्धान्त का अनिवार्य परिणाम 'सम्भूय-समुत्थान' है, जिसकी सामुदायिक-वृत्ति लोक-तन्त्र और समाजवादी नीति के अनुकूल पड़ती है।

बुद्ध ने कार्य-कारण भाव का जो सिद्धान्त स्थापित किया, उसके आधार पर मध्यम-मार्ग की जीवन-दृष्टि प्रतिफलित होती है। मध्यम-मार्ग के रूप में जिस जीवन-पद्धति का बुद्ध ने प्रस्तुतीकरण किया, वह उनकी एक ऐसी यथार्थ और तार्किक प्रस्थापना थी, जिसकी यथार्थता और तार्किकता बाद की विभिन्न परिवर्तित परिस्थितियों में समय-समय पर व्याख्या भेद से बढ़ाई जा सकी। परवर्ती बौद्ध विद्वानों ने इस महान् कार्य को किया, जिसका अध्ययन हमें आज की जीवन्त समस्याओं के अनुबन्ध में, चाहे वह सामाजिक, आर्थिक या राजनितिक ही क्यों न हो—करना चाहिए। भगवान् बुद्ध का मध्यम-मार्ग जैसे नीति, धर्म और दर्शन को एक विशेष दिशा प्रदान करता है, उसी प्रकार वह एक मध्यवर्ती जीवन-पद्धति को भी प्रस्तुत करता है, जिससे विलासिता और कठोरता के बीच तथा शाश्वतवाद-रहस्यवाद और भौतिकवाद

के बीच सामाजिक आर्थिक व्यवस्था को एक नवीन दिशा प्रदान की जा सकती है। निःसन्देह सामन्तवादी या पूंजीवादी व्यवस्था और उसकी शोषण-पद्धति मध्यम मार्ग के स्वभाव के विपरीत है। इस प्रकार मध्यममार्गी आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्धित अध्ययन की एक महत्त्वपूर्ण सम्भावना खड़ी होती है। बौद्धदर्शन के अध्ययन के फलस्वरूप एक ओर मार्क्सवाद की बहुत सी दार्शनिक असंगतियां दूर हो सकती हैं, और दूसरी ओर उस समाज में जहाँ-जहाँ प्राचीनकाल में बौद्ध विचारों का प्रभाव था, वहाँ-वहाँ नयी समाज-व्यवस्था लाने में नवीनतम समन्वय के साथ बौद्ध विचारों के क्रान्तिकारी तत्त्वों का स्वाभाविक विनियोग किया जा सकता है, जो वहाँ के लोगों के लिए सर्वथा अपरिचित या आरोपित नहीं होगा।

बौद्ध किसी कार्य के प्रति पूर्ववर्ती सम्पूर्ण कारणों को एक समुच्चित कारण-सामग्री मानते हैं। वे एक-कारणतावाद और प्रधान-कारणतावाद के विरोधी हैं। कारण की समग्रता अन्योन्यापेक्षता है, जिसके पीछे समानता की बौद्धदृष्टि काम करती है। कारणता के इस सिद्धान्त के आधार पर यह भी निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति या समाज का वास्तविक समुत्थान समानता के आधार पर ही सम्भव है, जो एक दूसरे की अपेक्षा के बिना नहीं होना चाहिए। इसके विपरीत समाज में यदि किसी वर्ग का अव्याहत समुत्थान देखा जाता है, तो वह अवश्य ही अवास्तविक एवं आरोपित व्यवस्था है, जो अनीति और शोषण पर टिकी हुई है। इस प्रकार मध्यम-मार्ग अपनी दार्शनिक परिणतियों के आधार पर समाज व्यवस्था और अर्थव्यवस्था के अध्ययन के लिए एक नयी संभावना प्रस्तुत करता है। एक बात और भी स्पष्ट है कि मध्यममार्ग के साथ ऐकान्तिक रूप से भौतिकतावादी दृष्टि सुसंगत नहीं हो हो सकती, जिसमें मनुष्य का भावनात्मक एवं आदर्शवादी विकास बहुत कुछ रुक जाता है। मध्यममार्ग तृष्णा के विरोध में खड़ा होता है, जब कि तृष्णा पर आधारित दर्शन जैसा शाश्वतवाद है, वैसे ही उच्छेदवाद भी है। शाश्वत दृष्टि जीवन के प्रति काल्पनिक एवं रहस्यवादी दृष्टि है, जिसके आधार पर प्राचीनकाल से ही ईश्वर, आत्मा, जातिवाद, वर्णव्यवस्था आदि की नित्यता का विश्वास तथा शास्त्र-प्रामाण्य, भाषा की पवित्रता, राजशासन-प्रामाण्य आदि के सिद्धान्त पुष्ट हुए और परवर्ती काल में सामन्तवाद, साम्राज्यवाद और पूंजीवाद समर्थित हुए। उसी प्रकार तृष्णा का एक दूसरा रूप है—वर्तमानता या ऐहिकता का, जिसे बौद्ध शब्दों में उच्छेद-दृष्टि कहा जाता है, इसकी

जीवन के प्रति मुख्य दृष्टि है ऐहिक सुख-भोग, जिससे नैतिक दृष्टि का एक सीमा के बाद विकास नहीं हो पाता। मार्क्स का यह कहना कि जो भावना रेल का निर्माण कराती है, वही दार्शनिकों के मस्तिष्क में दार्शनिक तत्त्वों का और नैतिक मूल्यों का सर्जन करती है—यह मध्यममार्गी दृष्टि में मान्य नहीं हो सकता। प्राचीन चार्वाक जैसे दर्शन तथा आधुनिक साम्यवादी एवं अन्य भौतिकवादी सिद्धान्त परस्पर में अनेक विभेदों के बावजूद इसी कोटि में आते हैं। शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों का समान दुष्परिणाम है कि वे (१) नीति और दण्ड का स्वतन्त्र निर्णय नहीं होने देते, (२) तथा वह माने हुए अनुशासन के नाम पर व्यक्ति की सर्जनशीलता को कुण्ठित करते हैं। मध्यममार्ग में व्यक्ति का व्यक्तित्व उसका स्वयं उपार्जित है, किन्तु वह समाज-निरपेक्ष एवं निरंकुश नहीं है, प्रत्युत उसके उपादान कारणों में समाज का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

मध्यम मार्ग : क्रान्ति की प्रक्रिया

मध्यम-मार्ग अतिवादों से बचकर तथ्य के मध्यबिन्दु को देखने की एक प्रक्रिया है। शाश्वतवाद एवं उच्छेदवाद अतिवादी दृष्टियां हैं, जो काल्पनिक सुख को खड़ा करती हैं और व्यक्ति तथा समाज में व्याप्त आन्तरिक और बाह्य यथार्थ दुःखों का साक्षात्कार नहीं होने देती। बौद्ध विचार की प्रथम भूमि है—दुःखता का साक्षात्कार। जगत की सारी परिवर्तित परिस्थितियों में दुःखता का जैसे अनेकानेक रूपों में परिवर्तन होता रहा है और उसी प्रकार उसके पीछे छाया रूप से विद्यमान तृष्णा का रूप भी बदलता रहा है। मध्यममार्गी विश्लेषण से दुःखता और उसकी कारणता की सही अवधारणा होती है। अतियों के टूटने से सामाजिक आचार या व्यवस्था में समता का क्रमिक विकास होना संभव होता है। किन्तु इसकी भी पूरी सम्भावना बनी रहती है कि वह अंगीकृत समता कहीं अतियों की कोटि में न चली जाए। इसके लिए यह आवश्यक है कि सदा इसका परीक्षण और विश्लेषण होता रहे। परीक्षण की इसी प्रक्रिया में प्रायः सभी विशिष्ट बौद्ध प्रस्थानों में मध्यम-मार्ग तथा उसके द्वारा बोधित मध्यता की स्थिति में बहुत कुछ अन्तर होता गया। थेरवाद, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, माध्यमिक, विज्ञानवाद और तर्क प्रस्थानों में यह भेद स्पष्ट हो जाता है। परीक्षण प्रतीत्य-समुत्पाद की प्रक्रिया से ही संभव है, जिसकी जीवन-व्यवस्था मध्यम-मार्ग है।

वास्तव में मध्यम मार्ग तथा प्रतीत्य-समुत्पाद एक दूसरे के पोषक हैं। मध्यममार्ग विशेषतया जीवन-दृष्टि को प्रकट करता है, जो आचार, नीति, धर्म एवं समाज व्यवस्था में प्रतिफलित होता है, प्रतीत्य-समुत्पाद पूर्व से पर का नियमन करता है और उसका तात्त्विक विश्लेषण कर भविष्य का संकेत करता है। प्रतीत्यसमुत्पाद का कार्य-कारण-भाव नियम शाश्वतवादी या उच्छेदवादी कारणता के सिद्धान्त से अत्यन्त भिन्न है। एक ओर वह वस्तुओं और विचारों की अस्थिरता और गतिशीलता को प्रकट करता है, जब कि दूसरी ओर इसमें नियमबद्धता है और दार्शनिक दृष्टि से असत्-कार्यवाद होने के कारण नियतिवाद की गन्ध नहीं है। वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक सिद्धान्तों में इसे एक अवस्था से दूसरी अवस्था का आना अथवा पूर्व से पर का प्रकर्ष अथवा सम्बन्ध मानते हैं। महायान के विश्लेषण से ये मान्यताएं भी अतिवादी एवं प्रतिक्रियावादी रूढ़ ज्ञात होने लगीं, फलतः उनका जब पुनः विश्लेषण प्रारम्भ हुआ तो उससे अवस्थान्तरता, प्रकर्षता या सम्बन्धता का सिद्धान्त टूटने लगा और प्रतीत्य-समुत्पाद से निःस्वभावता का सिद्धान्त प्रकट होने लगा। इतिहास की इस प्रक्रिया से यह स्पष्ट है कि परीक्षण की इस विधि से जो निष्कर्ष निकलेगा, वह वह अवश्य ही सभी अतिवादों से दूर होकर मध्य-स्थिति को प्रकट करेगा और वह मध्य कभी स्वयं में रूढ़ नहीं होगा। इस प्रकार मध्यम मार्ग एक गतिशील जीवन-दृष्टि है, जिसके प्रयोग में कोई भी व्यक्ति, व्यक्ति की दृष्टि से शील, समाधि और प्रज्ञा की तथा समाज की दृष्टि से इन्हीं की परिपूर्णता या 'पारमिता' की साधना करता है। इस प्रकार के द्विविध प्रयोग हीनयान और महायान की विशेषताओं को प्रकट करते हैं, जिससे अनेकानेक नैतिक और सामाजिक आदर्श एवं व्यवस्थाएं प्रतिफलित होती हैं।

उपर्युक्त दार्शनिक स्थिति में भी यह बहुत स्पष्ट है कि इतिहास में मध्यममार्ग का सामाजिक, व्यवस्थाओं या राज-कारण के बीच अपेक्षित रूप में कभी प्रयोग नहीं हुआ। कारण स्पष्ट है कि प्राचीन काल में यह प्रकट नहीं था कि तृष्णा का कोई संगठन वर्गीकृत होता है, जो समाज-व्यवस्था को अपने वर्ग-स्वार्थ के लिए नियन्त्रित किए रखता है। यह तथ्य है कि मार्क्सवादियों ने द्वन्द्वात्मक न्याय के आधार पर इसे स्पष्ट करने का ऐतिहासिक प्रयास किया है। प्रश्न यह है कि द्वन्द्वन्याय को स्वीकार न करते हुए भी क्या उनके इन निष्कर्षों का लाभ उठाया जा सकता है? स्पष्ट है कि मध्यममार्ग के अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त के सम्बन्ध में विना गम्भीर अध्ययन और उसका सफल

प्रयोग किए निष्कर्ष निकालना उचित नहीं है। किन्तु जहां तक उसकी सामाजिक दृष्टि को लागू करने का प्रश्न है, उसमें मध्यम-मार्ग के मार्क्सवाद से भी अधिक सफल होने की संभावना है।

निर्वाण और पुनर्जन्म

मार्क्सवाद के साथ बौद्ध विचारों के अध्ययन में कुछ बौद्ध मान्यताएं वाधक प्रतीत होती हैं, जिनकी ओर हमारा विशेष ध्यान जाना चाहिए, जैसे पुनर्जन्म और निर्वाण की बौद्ध कल्पना। इन दो मान्यताओं के आधार पर लगता है कि मार्क्सवादी भौतिक दर्शन के साथ बौद्ध-विचारों का सामंजस्य स्थापित नहीं हो सकेगा। ऐसे अध्ययन के लिए बार-बार यह स्मरण रखना पड़ेगा कि जैसे बौद्ध धर्म पौराणिकता से अछूता नहीं है, वैसे उसका दर्शन भी परम्परा से प्राप्त विश्वासों से सर्वथा अछूता नहीं है। किन्तु हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि ईश्वर और आत्मा के अभाव में तथा वस्तु की क्षणभंगता का सिद्धान्त स्वीकार कर लेने पर निर्वाण और पुनर्जन्म का सिद्धान्त उस प्रकार का नहीं रह जाता, जैसा ईश्वरवाद, आत्मवाद और स्थिरवाद के मोक्ष और पुनर्जन्म में। इस प्रसंग में इस ओर भी ध्यान देने की बात है कि बौद्धदर्शन के उत्तरोत्तर विकास के साथ इन मान्यताओं में भी उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं। समय समय पर बुद्ध ने स्वयं ही निर्वाण के सम्बन्ध में रहस्य-वाद को रोका है और कहा है कि यह 'अर्थोपसंहित' नहीं है, इससे मनुष्य के किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। उन्होंने निर्वाण के 'ऐहिपस्सिक' 'दृष्टधर्म' 'पच्चत्तं वेदितब्बं' आदि विशेषणों से इसी जीवन में अनुभव करनेवाली अवस्था के रूप में तथा यथासंभव ऐहिकता के रूप में उसकी व्याख्या की है। बुद्ध की दृष्टि में निर्वाण एक विशेष प्रकार की उत्कृष्ट जीवनदृष्टि है, वह विशुद्ध आर्यत्व है, एक प्रकार का उत्कृष्ट चित्त-विशोधन है। बौद्ध आचार्यों की दृष्टि से देखें तो सौत्रान्तिक सम्प्रदाय निर्वाण को अभावमात्र मानता है और माध्यमिक गण संसार तथा निर्वाण को समान कोटि और समान स्तर पर रखते हैं। परवर्ती बौद्धों की दृष्टि में निर्वाण का बहुत महत्त्व भी नहीं रह जाता, क्योंकि वे इस घटना पर जोर देते हैं कि बुद्ध ने बोधगया में स्व के निर्वाण का त्याग किया था और बहुजन के हित एवं सुख के लिए जीवन में धर्म-प्रचार को उद्देश्य बनाया था। इसी आधार पर विज्ञानवादियों ने 'अप्रतिष्ठित निर्वाण' की कल्पना की, जो एक तटस्थ प्रकार का महान् कारुणिक व्यक्तित्व है। वह

प्रज्ञा के कारण संसार में आसक्त नहीं है और करुणा के कारण आर्त्तजनों को दुःखों से विमुत्त करने के उद्देश्य से संसार को छोड़ स्वयं सुख-विहार में निमग्न नहीं होता। इस प्रकार निर्वाण एक सामाजिक एवं नैतिक मूल्य बन जाता है। आगे चल कर तान्त्रिक युग में मोक्ष भोग का सर्वथा अविरोधी हो गया तथा ऐहिकता और पारलौकिकता का भेद मिटने लगा, फलतः इस दृष्टि से एक सहज-जीवन का सिद्धान्त विकसित हुआ। इसके द्वारा सामाजिक एवं नैतिक क्षेत्र में भी परम्परागत एवं कृत्रिम मर्यादाएं टूटीं, केवल विचारों में ही नहीं, व्यवहार में भी; केवल व्यक्तिगत ही नहीं या केवल संघ में ही नहीं, समूह में बहुत कुछ समाज में भी। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि बौद्ध ग्रन्थों में निर्वाण को अमृत-पद या स्वर्ग अपवर्ग की तरह निश्चल सुख-विशेष, जैसा कि अन्य दार्शनिक मानते हैं, उसका कहीं उल्लेख ही नहीं मिलेगा; किन्तु इतना स्पष्ट है कि बौद्धों के मन्तव्य का यह प्रधान स्वर नहीं है। इसके विरुद्ध जो लोग अभिप्राय निकालना चाहेंगे, वे सामान्यतः मुख्य बौद्ध मान्यता की अवहेलना करेंगे।

इसी प्रकार बौद्धों की प्रधान दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर यदि पुनर्जन्म की समीक्षा करें तो इसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि नित्यतावाद और स्थिरवाद के अभाव में पुनर्जन्म केवल कर्म-फल-सम्बन्ध रह जाता है, जिसकी मान्यता नीतिशास्त्र और अपराध-दण्ड की व्यवस्था के लिए अनिवार्य है। क्षणभंगवाद में पुनर्जन्म से अभिप्राय है नयी परिस्थितियों में नये कर्म-समूह का विपाक। अर्थात् पूर्ववर्ती पृष्ठभूमि में जीवन की नयी उद्गत समस्या। व्यक्ति की दृष्टि से पुनर्जन्म जीवित क्षण-प्रवाह का एक संकेत है। क्योंकि बौद्ध सिद्धान्त में जब गन्ता नहीं है, किन्तु गमन है; कर्त्ता नहीं है, किन्तु क्रिया है; ऐसी स्थिति में एक-दूसरे में संक्रान्त करने वाला वह रूढ़ व्यक्ति कहां मिलेगा, जो विवश होगा कि जन्म के आधार पर धर्म और समाज की कल्पित रूढ़ मान्यताएं माने तथा उसके गतिहीन बोझ से अपने व्यक्तित्व को जड़वत् एवं नियत मान ले। मृत्यु एक चेतना-क्षण है, जन्म दूसरा चेतना-क्षण है, दोनों का पौर्वापर्य प्रायः वैसा ही है, जैसा कि वर्तमान जीवन के दो क्षणों का गतिमान प्रवाह। बौद्धों की इस सामान्य दार्शनिक स्थिति से एक यह विश्वास जुड़ा हुआ है कि वर्तमान मृत्यु चेतना-क्षण के बाद भविष्य में पुनः जीवित चेतना-क्षण आएगा। यह विश्वास व्यक्तित्व को लेकर मिथ्यादृष्टि है, जो निर्वाण के साथ समाप्त होती है। अस्तु, इस विश्वास को व्यक्ति के साथ न जोड़कर यदि सामान्य, समूह

या सजातीय समाज के साथ जोड़ दिया जाए, जिसके लिए बौद्धों की पूरी दार्शनिक पृष्ठभूमि सहायक है, तो कर्म एवं कर्मफल का विस्तार-केन्द्र समूह होगा, जिसकी व्यवस्था सामान्य होगी और उसका संस्कार व्यक्ति के चेतन-विन्दु में प्रतिफलित होगा।

इस प्रकार निर्वाण और पुनर्जन्म के सम्बन्ध में जिन बौद्ध तथ्यों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया, उससे इनकी ऐहिकतामूलक आध्यात्मिक एवं नैतिक व्याख्या करने के लिये एक दिशा मिलती है। किन्तु ये इस निबन्ध के प्रमुख विषय नहीं हैं। अतः यहाँ कुछ उन प्राचीन बौद्ध विचारों को नवीन अनुबन्ध में प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे मार्क्स और बौद्धों के दार्शनिक अध्ययन की नयी दिशा का संकेत मिल सके। इसलिए प्रधान रूप से सौत्रान्तिक जो वस्तुवादी दर्शन है तथा माध्यमिक जो अवस्तुवादी दर्शन है, उन्हें अगले वक्तव्य की पृष्ठभूमि में रखना आवश्यक होगा।

परिवर्तनवाद : क्षण एवं गति

कहा गया है कि बौद्धदर्शन परिवर्तनवादी दर्शन है। उसके परिवर्तन का सिद्धान्त जड़-चेतन दोनों प्रकार के पदार्थों पर समान रूप से लागू होता है। उनके 'कार्यकारण' का सिद्धान्त जिसे बौद्ध 'प्रतीत्यसमुत्पाद' शब्द से कहना चाहते हैं, वह एक ओर जड़-चेतन वस्तुओं के स्वरूप को प्रकट करता है और दूसरी ओर उसकी गति, प्रवाह या परिवर्तन को इंगित करता है। इस प्रकार का कार्यकारणभाव बौद्धदर्शन को भौतिकवाद और शाश्वतवाद के उभय दोषों से बचाता है। भौतिकवाद की जडतामूलक स्थिरता और शाश्वतवाद की परनिरपेक्षता मूलक नित्यता के निराकरण से वस्तु की अनित्यता एवं क्षण-भंगता स्पष्ट होने लगती है। यहाँ तक कि इस स्थिति में वस्तु की सत्ता को दैशिक एवं कालिक विस्तार में भी नहीं देखा जा सकता। बौद्धों ने वस्तु का अस्तित्व उसकी चरितार्थता (अर्थक्रियाकारित्व) के आधार पर स्वीकार किया है। वस्तु की सत्ता का प्रमाण है—उसकी स्वयं की चरितार्थता। चरितार्थता से अभिप्राय किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि करना है। जो किसी यथार्थ व्यवहार को सिद्ध नहीं करता, उसका अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता। बौद्ध मत में कोई भी अस्तित्व अखण्ड एवं स्वतन्त्र नहीं है, सभी हेतु-प्रत्ययों से, अनेकानेक कारणों से निर्मित हैं। जो निर्मित नहीं है, वह वस्तु-सत् नहीं है। नित्यता से अपरिवर्तनशीलता एवं अक्रमता फलित होती है, किन्तु जो नित्य

और अक्रम है, वह न कभी किसी कारण से उत्पन्न हो सकता है, न स्वयं ही किसी का कारण बन सकता है। इसके विपरीत बौद्ध मत में जो कार्यकारण के गर्भ में नहीं है, उसका अस्तित्व ही नहीं है। इस प्रकार उनके अनुसार कोई भी वस्तु स्वयम्भू या स्वतन्त्र नहीं है, प्रत्युत अन्य-कृत सम्भूयकृत या सामग्रीकृत और अन्योन्याश्रित है। वस्तु जडावयवों के अतिरिक्त उन सब का आश्रयभूत कोई एक अवयवी नहीं है। जैसे अवयवों के अतिरिक्त जडावयवी नहीं, उसी प्रकार चेतनावयवों के अतिरिक्त चेतनाओं का आश्रय कोई आत्मा नहीं। जडावयव या चेतनावयव भी नित्य नहीं है, उन पर भी प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम लागू है। अतः वह भी सम्भूय-कृत है, संस्कृत है। इस प्रकार सम्भूयकारित्व का सिद्धान्त जड और चेतन दोनों पर लागू है। कोई भी कार्य या कोई भी स्थूल या सूक्ष्म घटना अनेकानेक कारणों एवं परिस्थितियों की प्रसूति है। कारणों में भी गौण-प्रधान भाव नहीं है और उनमें एकरूपता भी नहीं है। कारणों में कुछ सर्वत्रग कुछ सहजात आदि अनेक प्रकार के हैं।

जड़ चेतन सब की कारणता केवल इस सामान्य नियम के आधार पर है कि अगली कार्यसत्ता के ये सभी पूर्ववर्ती हैं। इस प्रकार पौर्वापर्य सम्बन्ध को प्रतीत्यसमुत्पाद इंगित करता है। इस स्थिति में किसी कारण या किसी कार्य की नित्यता या स्थिरता सिद्ध नहीं हो सकती। सभी संस्कृत वस्तुएं क्षणिक होती हैं। क्षणिकता का अर्थ है उत्पत्ति-विनाश अर्थात् स्थितिरहित वस्तु। यह ठीक है कि कोई भी सद्-विन्दु पूर्ववर्ती कारण सत्ता के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता, किन्तु कदापि इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कारण कार्य को कुछ भी देता है या किसी प्रकार कारण कार्य का स्थिर उपादान बनता है। तथ्य यह है कि कारणसत्ता स्वयं विनष्ट होकर कार्यसत्ता को खड़ा करती है। किसी कारण की चरितार्थता इसमें है कि वह असत् कार्य को उत्पन्न करे और उसे सत् बनाए। यहाँ इस तर्क को ध्यान में रखना होगा कि सत्ता के लिए जैसे कारणता की अपेक्षा है, वैसे असत्ता के लिए नहीं, इसलिए वस्तु की असत्ता अकारण होती है। यही 'सकारण-उत्पत्ति' और 'अकारण-विनाश' का बौद्ध सिद्धान्त है, जो अनित्यता एवं क्षणिकता के सिद्धान्त का सहज प्रतिफलन है। पदार्थ चाहे कितना भी क्षणिक हो, अनित्य हो, उसमें स्वयं की गतिशीलता नहीं है, क्योंकि उत्पत्ति के साथ ही अनिवार्यतः विनाश लगा हुआ है। गति के लिए देश-काल का मान आवश्यक है, तभी कार्यकारणमूलक पौर्वापर्य ज्ञात होगा। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद 'कारणों से उत्पन्न' किन्तु 'अकारण ही

विनष्ट' होने वाले वस्तु-विन्दुओं के अतिरिक्त उनके आधार पर एक प्रवाह या सन्तान का बोध कराता है, जिससे वस्तुओं की गतिशीलता एवं कार्यकारणता परिलक्षित होती है। इसी प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद अनित्य एवं गतिहीन वस्तुओं में परिवर्तनशील सम्बन्धों को भी अभिव्यक्त करता है।

सामान्य और विशेष

बौद्ध दृष्टि से वस्तु-जगत् को समझने के लिए 'सामान्य' या 'साधारणता' या 'सादृश्य' बोध को समझ लेना होगा। क्षणभंगवाद में प्रत्येक वस्तु-विन्दु स्वयं में सर्वथा असाधारण स्वभाव रखता है, चाहे उसकी उत्पत्ति पराधीन हो, किन्तु स्वभाव आत्यन्तिक रूप से अपराधीन एवं स्वतन्त्र है। वस्तु में प्रतीत होने वाला सामान्य वस्त्वाधारित अवास्तविक प्रतीति है। साधारणता या सादृश्य को वस्तुसत् बनाने के लिए स्वभाव का संक्रमण आवश्यक है, जो सर्वथा असम्भव है, क्योंकि किसी प्रयोजन-विशेष की सिद्धि वस्तु-विशेष से ही सम्भव है, अन्य से नहीं। किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि सभी व्यवहार और उसका प्रामाण्य सामान्य या साधारण के कारण ही सम्भव है।

परिवर्तन : तत्त्व और सिद्धान्त

इस प्रकार वस्तु के सम्बन्ध में बौद्ध दृष्टिकोण का विश्लेषण करने पर कुछ ऐसे तथ्य प्रकट होते हैं, जिनके आधार पर मार्क्सवादी विचारों को नए वैचारिक वातावरण में सोचा जा सकता है। ये तथ्य निम्नलिखित हैं:—

१—किसी भी जड़ या चेतन वस्तु की नित्य एवं निरपेक्ष सत्ता नहीं होती।

२—किसी भी पदार्थ या विचार का सही ज्ञान उसकी पूर्ववर्ती परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है।

३—कारणगत पूर्व परिस्थितियों से अग्रिम कार्य प्रतिबद्ध रहता है, किन्तु नियतिबद्ध नहीं; क्योंकि असत् से सत् कार्य की उत्पत्ति होती है।

४—इसलिए परिस्थितियाँ नियतता का विरोध कर नई घटना को भी जन्म दे सकती हैं।

५—किसी भी वस्तु या विचार की वास्तविक सत्ता या उसका प्रामाण्य उसकी सफल व्यावहारिकता से ही निश्चित किया जा सकता है।

६—कोई भी सामान्य, सादृश्य या दृष्टान्त आत्यन्तिक सत्य नहीं होते और उनके आधार पर कोई नियम या निर्णय आत्यन्तिक सत्य नहीं होता।

वस्तुवादी बौद्धों की इस पदार्थवादी दृष्टि के गर्भ में ऐसे सूक्ष्म एवं व्यापक तथ्य निहित हैं, जिनके आधार पर वैयक्तिक और सामाजिक जीवन का पुंखानुपुंख परीक्षण किया जा सकता है और उनके विकास की नई दिशा निश्चित की जा सकती है। हम आगे चलकर देखेंगे कि हिगेल और मार्क्स के ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद की तुलना में बौद्धों का यह क्षणभंगवाद किसी क्रान्ति के लिए कितना अधिक यथार्थ, संग्राहक एवं तार्किक तथ्यों को प्रस्तुत करता है। किन्तु इसके पूर्व जड और चेतन के परस्पर सम्बन्धों का बौद्ध दृष्टि से विचार कर लेना आवश्यक है, जिससे मार्क्सवाद से बौद्धदर्शन का भेद और समानता समझी जा सके।

जड-चेतन : सहवर्तित्व एवं जडाद्वैत

जड और चेतन में परस्पर क्या सम्बन्ध है? इन दोनों का द्वैत है या अद्वैत? यदि अद्वैत है, तो जड़ चेतना का प्रतिफलन है या चेतना जड़ का? द्वैत है, तो चेतना और भूत-भौतिक पदार्थों में गौण और प्रधान कौन है? इन प्रश्नों ने प्रायः सभी विकासवादी दार्शनिकों को अपने में उलझाए रखा है। इसी के विभिन्न उत्तरों में हिगेल और मार्क्स जैसे मौलिक रूप से द्वन्द्ववादी दार्शनिक भी परस्पर विरोधी दिशाओं में चले गये। आदर्शवाद और भौतिकवाद की यही विभाजक रेखा है। वस्तुवादी एवं द्वैतवादी बौद्ध-दार्शनिकों ने इस प्रश्न का उत्तर एक ऐसे आधार पर दिया, जहां जड-चेतन की विभिन्नता भिन्न दिशा नहीं ले सकती थी। उनका यह आधार है—'सहवर्तित्व' का। सहवर्तित्व के पीछे भी प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त लागू है। यद्यपि बौद्ध दार्शनिक चेतना और जड में किसी एक से दूसरे की उत्पत्ति नहीं मानते, तथापि प्रतीत्यसमुत्पाद के कारण उन दोनों में परस्परता एवं सहवर्तित्व मानते हैं। उनके मत में इन्द्रिय और अर्थ के बिना विज्ञान, विज्ञान के बिना इन्द्रिय और अर्थ की कोई स्थिति नहीं है। ये दार्शनिक कहते हैं कि किसी एक समान-कार्य

को सम्पन्न करने के उद्देश्य से या परस्पर एक दूसरे का उपकार करने से दो विरोधी स्वभाव के वस्तुओं का 'सहकार' सिद्ध होता है। देह और मन में एक-कार्य-कारित्व और परस्परोपकारित्व दोनों हैं। इन दोनों का समान हेतु कर्म-चेतना है। इसकी वजह से जड-चेतन में परस्पर की अपेक्षा बन जाती है। क्षणिक चेतना और क्षणिक देह (भौतिक) की अन्योन्यापेक्ष हेतुता के आधार पर जडवादियों की तरह देह चेतना का आश्रय है, यह भी कथञ्चित् कहा जा सकता है; किन्तु इसका भी ध्यान रखना चाहिए कि जड और चेतना के अपने अपने पूर्ववर्ती सजातीय उपादान कारणों से उत्पन्न होने पर ही उनके बीच परस्पर में भी हेतुता बन सकती है। बौद्धों के भूत और चित्त के इस सहवर्तित्व के सिद्धान्त से केवल भूतवाद और केवल चैतन्यवाद के दोष नहीं रह जाते।

इस प्रकार बौद्धों के क्षणभंगवाद और 'जडचेतन-सहवर्तित्व सिद्धान्त' की दृष्टिभंगी से मार्क्सवाद की द्वन्द्ववादी प्रक्रिया की उत्कृष्टतम दार्शनिक व्याख्या की जा सकती है।

अधिभूतवाद विश्वात्मा और मार्क्स

मार्क्स को प्राचीन अधिभूतवादियों के प्रति यह शिकायत थी कि वे प्रकृति को स्थिर, निश्चित, पूर्वापर सम्बन्ध-विच्छिन्न मानते हैं। चेतना एवं वस्तु को एक दूसरे से विच्छिन्न तथा स्वाधीन सा मानने से वे उनके सम्बन्धों को भूल जाते हैं। उनके मतानुसार भौतिकवादी यह नहीं समझ पाते कि भाव और अभाव जैसे एक दूसरे के विरोधी हैं, वैसे ही अभिन्न भी हैं तथा सारे विरोधों के बावजूद वे एक दूसरे में अन्तर्व्याप्त हैं। इस प्रकार मार्क्स को अधिभूतवादियों के एक प्रकार के क्षणिकवादी होते हुए भी किसी अस्तित्व को विराम की स्थिति में देखना, उनकी गति को भूल जाना, बहुत ही खटकता था। यही कारण था कि मार्क्स ने प्राचीन अधिभूतवादियों की जगह हिगेल के सिद्धान्त को स्वीकार किया, जिससे उनको परिवर्तन और विकास की द्वन्द्वात्मक-पद्धति मिली। इस प्रक्रिया के द्वारा मार्क्स को सम्पूर्ण जगत्—चाहे वह प्राकृत ऐतिहासिक या मानसिक हो—सतत प्रवाह, गति, परिवर्तन तथा विकास की अवस्थाओं में चित्रित मिला। इस प्रक्रिया द्वारा उस आन्तरिक सम्बन्ध एवं उस सूत्र को पकड़ने की चेष्टा की गई, जिससे गति एवं विकास की क्रमबद्ध व्यवस्था समझी जा सके।

हिगेल के अनुसार चेतना या तर्क हो वह सूत्र है, जिसके द्वारा इतिहास की समस्त प्रक्रिया का ज्ञान किया जा सकता है। यह सत्य है कि प्रत्येक स्थिति के अन्तर्गत उसका विरोध भी वर्तमान रहता है। सभी पदार्थ सत्-असत् उभयात्मक हैं। सत् में ही असत् छिपा हुआ है, क्योंकि कोई भी सत्ता अपरिच्छिन्न होकर असत्ता हो जाती है। इस प्रकार सत्-असत् ये दोनों तृतीय पदार्थ में समाविष्ट या समन्वित हो जाते हैं। इन सभी द्वन्द्वों का महान् समन्वय पूर्ण स्वतन्त्र चैतन्य में होता है। इस रीति से हिगेल के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड चेतना पर आधारित है, जो स्वयं में परम तत्त्व है; इतिहास के सन्दर्भ में वह अपने को क्रमिकता एवं द्वन्द्वात्मकता के रूप में अभिव्यक्त करती है।

मार्क्स हिगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति का ऋणी है, किन्तु वह उसके निरपेक्ष एवं सत्यभूत चेतना की कल्पना को स्वीकार नहीं करता। मार्क्स मन और पदार्थ की पारस्परिक प्रतिक्रिया को स्वीकार करता है, किन्तु विश्वात्मा की सत्ता को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है, जिसके महासमन्वय में वे दोनों रहते हैं। हिगेल के प्रति मार्क्स की यह शिकायत थी कि उसने पदार्थ और उसके विकास को चैतन्य या विचार का व्यक्त, मूर्त एवं प्रतिफलित-रूप स्वीकार करके प्रत्येक तथ्य को सिर के बल खड़ा कर दिया, जिससे वस्तुओं के यथार्थ सम्बन्ध ही बिलकुल उलट गए। एंगेल्स ने कहा कि हिगेल के सिद्धान्त में आन्तरिक विरोध यह था कि एक ओर वह मानव इतिहास को विकास की एक प्रक्रिया मानता था, परन्तु दूसरी ओर अपनी व्यवस्था को निरपेक्ष सत्य का सार समझता था। इस प्रसंग में एंगेल्स का यह निश्चय था कि प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक ज्ञान की एक ऐसी व्यवस्था जो सर्वव्यापी हो, सदा के लिए निश्चित हो, अन्तिम सत्य हो, वह द्वन्द्ववादी तर्क-पद्धति के मूलभूत नियमों के ही प्रतिकूल है।

सत् से सत् और असत् से असत्

मार्क्स ने हिगेल के उपर्युक्त चैतन्यवाद का खण्डन करके भौतिकवाद को स्वीकार किया, किन्तु उसका यह भौतिकवाद प्राचीन भौतिकवाद नहीं था, वह द्वन्द्ववाद से जुड़ा हुआ था। इसी के आधार पर मार्क्स ने इतिहास की आदर्शवादी धारणा की जगह इतिहास की भौतिकवादी विवेचना प्रस्तुत की। एंगेल्स के शब्दों में 'अभी तक मनुष्य की चेतना को उसकी सत्ता का आधार माना गया था, पर अब मनुष्य की सत्ता को उसकी चेतना का आधार प्रमाणित करने का मार्ग खुल गया'।

एंगेल्स ने जिस मार्ग को खोला उसी मार्ग पर कुछ आगे चलकर यह कहा जा सकता है कि बौद्धों के सुपुष्ट दार्शनिक आधार पर क्षणभंगता और बुद्धिकाय-सहवर्तित्व का सिद्धान्त आदर्शवाद की निरपेक्ष सत्यता और भौतिकवाद की गतिहीन परिच्छिन्नता को हटाकर जीवन और जगत् के सम्पूर्ण पक्षों के वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए विशाल राजमार्ग खोल देता है। पहले कहा गया है कि क्षणभंगवाद 'सकारण उत्पत्ति, अकारण-विनाश' का सिद्धान्त है और कारणता पूर्ववर्तिता-मात्र है। कारण की पूर्ववर्तिता कारण की असत्ता से ही प्रकट होती है, अतः असत्ता से ही सत्ता की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद का निष्कर्ष है—'असत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति'। ऐसी दशा में द्वन्द्वपद्धति का उत्कृष्टतम विकल्प प्रतीत्य-समुत्पाद बन जाता है, जिसकी पूर्ववर्तितापेक्षी वर्तमानता के आधार पर परिवर्तनशीलता की प्रक्रिया का सिद्धान्त खड़ा हो जाता है। हिगेल की परिवर्तनवादिता का सिद्धान्त इसलिए क्रान्तिकारिता की दृष्टि से शिथिल पड़ जाता है कि उसका द्वन्द्ववाद स्पष्ट ही 'परिणामवादी विकासवाद' और 'सत्कार्यवाद' है, जो निश्चित रूप से 'नियतिवाद' और 'परम्परावाद' में बद्ध जाता है। मार्क्स भी अपने को इससे बहुत दूर न रख सका, क्योंकि मार्क्स ने हिगेल से अपने को अलग बताने के लिए क्षणिकवाद और परिवर्तनशीलता पर उतना जोर नहीं दिया, जितना परिमाणात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन के सिद्धान्त पर। मार्क्स बीज के सजातीय परिवर्तन को परिमाणात्मक परिवर्तन और अंकुररूप से उभरी विजातीय उत्पत्ति को गुणात्मक परिवर्तन मानते हैं। मार्क्स गुणात्मक परिवर्तन को अत्यन्त अपूर्व बताना चाहते हैं, जिससे वह सत्कार्यवाद में न फंसें। किन्तु वास्तव में यह भी एक प्रकार का सत्कार्यवादी परिणामवाद ही है, क्योंकि मार्क्स की दृष्टि में प्रत्येक परिवर्तन का अर्थ है 'परिमाण का गुण में संक्रमण'। संक्रमण के लिए कारण का सत् होना और उसमें कार्य का बीजात्मना रहना अत्यन्त आवश्यक है, जो सत्कार्यवाद से भिन्न नहीं है। यही कारण है कि हिगेल की तरह महासमन्वय के रूप में निरपेक्ष चेतन-तत्त्व की कल्पना न करके भी मार्क्स ने वर्गहीन समाजवादी समाज में सर्वव्यापी मुक्ति की कल्पना की और उस पर पहुँचने के पहले विकास के मध्यवर्ती मंजिलों को नियत एवं अनिवार्य बताया। विकास की आत्यन्तिक अपूर्वता को दिखाने के लिए उसने प्रत्येक पदार्थ में दो विरोधी प्रवृत्तियां और उनके बीच परस्पर संघर्ष का सिद्धान्त स्वीकार किया। परिणामों के बीच में तीव्रता लाने के लिए परिमाण से गुण में रूपान्तरण के बीच हनुमान के समुद्रलंघन की तरह एक साथ

ही अनेक असंगतियों के कारण मार्क्स की ये मान्यताएं अतार्किक होने लगती हैं। उनका इस ओर ध्यान जाना चाहिए था कि एक में परस्पर दो विरोधी प्रवृत्तियां दो स्वतन्त्र पदार्थ-स्वभाव मानने के पक्ष में हैं, क्योंकि प्रवृत्ति एक विशिष्ट व्यापार या व्यवहार है, या उसके द्वारा ग्राह्यवस्तु है, जो अपनी स्वतन्त्र-सत्ता का स्वतः प्रमाण है। परिमाणधारा का गुण-भेद में उत्क्रान्त हो जाना भी मार्क्सवाद को आकस्मिकवाद के पथपर खड़ा कर देता है या उसे स्वभाव मानने के लिए विवश कर देता है। इन दोनों स्थितियों में कार्यकारणभाव का क्षेत्र संकुचित करना पड़ेगा, जो मार्क्स को किसी तरह मान्य नहीं है।

प्रज्ञप्ति-सत्ता और ऐतिहासिकता

वास्तव में बौद्धों के क्षणभंगवाद तथा क्षणसन्ततिवाद के आधार पर इन सभी दोषों का निराकरण किया जा सकता है। क्षणभंगता से वस्तु की असाधारणता तथा विच्छिन्नता, क्षणसंतति से वस्तु की साधारणता एवं अविच्छिन्नता या प्रवाह का बोध होता है। वस्तु के ये दो भिन्न रूप हैं—एक विशेष दूसरा सामान्य। जिस कार्यकारणभाव से जीव-जगत् की ऐतिहासिकता का और उसके विकास का बोध होता है, वह क्षणसन्तति का क्षेत्र है, जिसके घटक क्षणबिन्दुएं हैं। क्षणसन्तति में ही वस्तु का दैशिक और कालिक रूप में विस्तार-बोध होता है। इसमें क्रम और गति है, जो पूर्वापर को जोड़ती है। यह केवल ज्ञान-व्यापार ही नहीं, वस्तु-व्यापार भी है, अतः वास्तविक है, यथार्थ है तथा ऐतिहासिक है। समाज की सत्ता का भान भी इसी स्थिति में मानना होगा। समाज की सत्ता का प्रमाण उसकी प्रज्ञप्ति माननी होगी, इसी प्रज्ञप्ति के गर्भ में धर्म, संस्कृति, सभ्यता आदि का विकास होता है। यह ध्यान रखना होगा कि समाज-प्रज्ञप्ति असत् नहीं है, किन्तु यह भी सत्य है कि वह द्रव्यसत् भी नहीं है। यही वह व्यवहार-भूमि है, जिसके अविसंवाद या सफल-व्यवहार के आधार पर किसी ज्ञान का प्रामाण्य और किसी ज्ञेय की व्यावहारिक सत्ता सिद्ध होती है। यही वह जड-चेतनाधारित जीवित प्रवाह है, जिसमें व्यक्ति, समाज और राज्य के विविध सम्बन्ध, धर्म एवं संस्कृति की मान्यताएं प्रतिफलित होती हैं। इसका क्रम ऐतिहासिक और इसका विकास वैज्ञानिक है। इस बात का बार-बार ध्यान रखना चाहिए कि बौद्धदर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में यह सब कुछ विकल्प की प्रसूति है, निर्विकल्प नहीं है, किन्तु असत्य भी नहीं है; निर्विकल्प से भिन्न एक ऐसा सत्य है, जो प्रमाणित है सम्यक् है; क्रमिक एवं ऐतिहासिक है।

तृष्णा-जटा : वर्गस्वार्थ एवं वर्ग-संघर्ष

उपर्युक्त सभी तात्त्विक उपलब्धियां प्रतीत्यसमुत्पाद की ही प्रतिफलन हैं। इनके आधार पर परिवर्तन एवं विकास के सिद्धान्त का अध्ययन करने पर सत्कार्यवाद, नियतिवाद, स्वभाववाद आदि की आशंकाएं, जो मार्क्सवाद को परम्परावादी, संशोधनवादी एवं एक सीमा के बाद गतिहीन बना देती हैं, वे दूर हो जाएंगी और मार्क्सवाद की दार्शनिक एवं तार्किक रिक्तताएं भर जाएंगी। प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध विचारों की रीढ़ है, जिस के व्याख्या-भेद से वस्तुवादी, अवस्तुवादी आदि विभिन्न प्रकार के बौद्ध प्रस्थानों का और उनके अनुकूल विभिन्न आचारों का विकास हुआ। इसका अवस्तुवादी दर्शन किसी दृष्टि से वस्तुवादी दर्शनों से भी अधिक क्रान्तिकारी और परमार्थबोधक है। जैसे, कहा जा सकता है कि शून्यवाद मार्क्स के आदर्शभूत समाजवादी समाज की कल्पना को एक सुदृढ़ दार्शनिक आधार दे सकता है, जिसका मार्क्सवाद में उल्लेखनीय अभाव है। द्वन्द्वन्याय और वर्ग-संघर्ष के नियम को सुदृढ़ करने के लिए मार्क्स ने उसे दार्शनिक आधार दिया, किन्तु आदर्श समाज में वर्ग और द्वन्द्व नियम के न रखने के लिए उनकी अनुपयोगिता के आधार पर जो कुछ बातें कहीं हैं, वे अपर्याप्त ही नहीं, बल्कि दार्शनिक दृष्टि से बहुत ही उपेक्षणीय हैं। शून्यवाद का निःस्वभावता-सिद्धान्त इस अभाव की भरपूर पूर्ति कर सकता है।

बौद्ध दृष्टि में सभी प्रकार के द्वन्द्व और और वर्ग अविद्या और तृष्णा की प्रसूति हैं। अविद्या विविध प्रकार की काल्पनिकता को खड़ा करती है, अविद्या के कारण ही जगत् में काल्पनिक सुखवाद खड़ा है और लोग दुःखता का साक्षात्कार नहीं कर पाते। इस काल्पनिकता की पुष्टि में ही नैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्थाएं खड़ी हैं। तृष्णा विभिन्न प्रकार के अस्तित्वों को खड़ा करती है। उन अस्तित्वों के प्रति इष्ट एवं अनिष्ट की अक्षुण्णता, उनके प्रति उपादेयता एवं हेयता की मान्यता, उनका अमरत्व और विस्तार, वर्तमानता की दृष्टि, समाज के प्रति उपेक्षा, अनुत्तरदायित्व की भावना, ये सब तृष्णा के ही अस्तित्वमूलक विभिन्न रूप हैं। बौद्ध दृष्टि में अविद्या और तृष्णा पर ही समाज की वर्तमान व्यवस्था खड़ी है। ईश्वरवाद, आत्मवाद, शास्त्र-प्रामाण्य, कर्मवाद, भाषा की पवित्रता, जातिवाद और वर्णों के आधार पर अधिकार-विभाजन, राजवाद-प्रामाण्य आदि से सम्बन्धित प्राचीन व्यवस्था और मान्य-

ताएं तृष्णाधारित व्यवस्था के रूप हैं। सामन्तवाद, साम्राज्यवाद, पूंजीवाद और अधिनायकवाद के विविध रूप तृष्णा के ही विकसित व्यापक रूप हैं। इसलिए अविद्या और तृष्णा का नाश करना ही किसी क्रान्तिकारी पद्धति का उद्देश्य होना चाहिए। अविद्या और तृष्णा के नाश का संक्षिप्त सारार्थ है— सभी प्रकार के कल्पित अस्तित्वों का विलोप। यही बौद्धों का अवस्तुवाद है, जो व्यक्ति, समाज, राज्य, धर्म, नीति आदि सभी प्रकार के अस्तित्वों पर समान रूप से लागू है। इसके विनाश के आधार पर ही आदर्श स्थिति की कल्पना होती है। इस अवस्था का प्रारम्भ निर्वाण और संसार, भोग और मोक्ष, धर्म एवं नीति की पुरानी व्यवस्था समाप्त होने पर ही सम्भव है। वहां द्वन्द्व नहीं और उसका संघर्ष भी नहीं है। स्पष्ट करने के लिए कहना पड़ता है कि वह समताधारित नयी समाज-व्यवस्था एवं नयी संस्कृति का उद्‌बोधन है। महायान के इस अस्तित्व-विलोप के सिद्धान्त से न केवल अस्तित्व सम्बन्धी मान्यताएं, प्रत्युत नास्तित्व सम्बन्धी मान्यताएं भी समाप्त होती हैं। इससे निषेध और निर्माण के लिए एक उत्कृष्ट जीवन-दृष्टि प्राप्त होती है और तृष्णा-विहीन सामाजिक व्यवस्था की संभावनाएं खड़ी होती हैं।



मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्॥

(बोधिचर्यावतारः ८:१०८)

बौद्धदर्शन और मार्क्सवाद

डा० रामचन्द्र पाण्डेय

किन्हीं दो विचार-धाराओं की तुलना करने से पूर्व उन विचारधाराओं की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों का अवलोकन आवश्यक है। विना इस पृष्ठभूमि की आलोचना के तुलनात्मक अध्ययन सतही और अधूरा ही रहेगा। यों कहने के लिए लोग कहते हैं कि बौद्धों की विचारधारा मार्क्स की विचारधारा से बहुत अंश में समान है और इस सतही समानता के आधार पर तुरन्त यह निष्कर्ष भी निकाल लिया जाता है कि दोनों एक दूसरे के साथ रह सकते हैं। पर इस प्रकार के निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए आवश्यक है कि इस निष्कर्ष के आधारों की परीक्षा हो। राजनीतिज्ञ विना सूक्ष्म परीक्षा के निष्कर्ष निकालने में चतुर होता है पर दर्शन का विद्वान् इस व्यामोह से अपने को बचाने का प्रयत्न करता है।

बौद्ध विचारों का आरम्भ दुःख की व्यापकता की अनुभूति से होता है। यह दुःख मार्क्स की तरह हमारी गलत ढंग की अर्थ-व्यवस्था की देन नहीं है, बल्कि जाति और जरामरण के कारण उत्पन्न होता है। कर्मसंक्लेश और जन्म-संक्लेश का सम्बन्ध प्रतीत्यसमुत्पादचक के आधार पर स्थिर होता है। इसके मूल में वास्तविक दुःख और दुःख के उपादान तथा निमित्त कारणों को सुख-दृष्टि से देखने का भ्रम कार्य करता है। यही भ्रान्ति या अविद्या दुःख-परम्परा को जन्म देती है। इसलिए कारण-विनाश से कार्य-विनाश का नियम लागू करने पर भ्रान्ति का नाश होने पर भ्रान्ति-जन्य दुःख का नाश माना जाता है। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि दुःख एक दृष्टिमूलक अनुभूति है, इसलिए अविद्यादृष्टि का नाश होने पर जाति आदि में दुःख-दृष्टि का नाश होता है। लेकिन, उदाहरण के लिए, एक बोधिसत्त्व दुःख-दृष्टि से मुक्त होने पर भी मृत्यु को प्राप्त होता ही है। अथवा सांसारिक वस्तुओं में दुःखता का ज्ञान हो जाने पर भी उन वस्तुओं का जो अनित्यता या क्षणिकता आदि स्वभाव है, उसका

दृष्टि का नाश होने पर भी नाश नहीं होगा। संक्षेप में अविद्या से दृष्टि उत्पन्न होती है, परन्तु वस्तु का स्वभाव नहीं। अतः अविद्या के नाश से दृष्टि का नाश हो जाएगा, परन्तु वस्तु का स्वभाव जैसा का तैसा ही रहेगा। स्वभाव दृष्टि से परे है, दृष्टि के होने या न होने से स्वभाव में परिवर्तन सम्भव नहीं है।

मार्क्स ने आर्थिक विषमता या अर्थ के असमान वितरण को जनता के दुःख का कारण माना है। इसलिए जनता के दुःख का विश्लेषण अर्थ-व्यवस्था के सन्दर्भ में किया जाएगा। यह अर्थ-व्यवस्था अज्ञान या अविद्या पर आधारित नहीं, बल्कि सामाजिक जीवन का वास्तविक स्वभाव है। इसलिए यहां दृष्टि नहीं, बल्कि वास्तविकता को ही दुःख-मुक्ति के लिए बदलना होगा। अतः एक प्रकार के स्वभाव वाली अर्थव्यवस्था के स्थान पर दूसरे स्वभाव वाली अर्थव्यवस्था को स्थापित करने से दुःख से मुक्ति मिल सकती है। दार्शनिक परिभाषा में स्वभाव के परिवर्तन की बात वदतो-व्याघात दोष से ग्रस्त मानी जाती है। यदि किसी वस्तु का अपना आत्यन्तिक स्वरूप (स्वस्य भावः) कुछ है तो उसी का आत्यन्तिक रूप बदल कर दूसरा नहीं किया जा सकता। क्योंकि बदलने पर स्वभाव परभाव हो जाएगा। अतः मार्क्स के दर्शन में बदलने का अर्थ हटाना है, एक व्यवस्था को हटा कर दूसरी व्यवस्था लाना है।

अतः दुःख के स्वरूप, कारण और निराकरण के उपाय के सम्बन्ध में मार्क्स और बौद्ध विचारों में न केवल अन्तर है, बल्कि विरोध भी है। एक में दुःख भ्रान्तिजन्य दृष्टि-स्वरूप है तो दूसरे में अर्थव्यवस्थाजन्य वास्तविकता है। बौद्धों के अनुसार दुःख आध्यात्मिक है, मार्क्स के अनुसार यह आर्थिक है। एक ओर दुःख को सुख समझना दुःख का कारण और दुःख को दुःख समझना दुःख से मुक्ति है तो दूसरी ओर दुःख को हटाकर सुख की स्थापना करना मुक्ति का कारण है।

अविद्या का निराकरण करने के लिए चूंकि वह दृष्टि को उत्पन्न करती है, इसलिए दृष्टि-शोधन के उपाय, जैसे ध्यान, समाधि, आदि, मार्ग बौद्धों द्वारा बताए गए हैं। निर्वाण की ओर ले जाने वाले मार्ग का प्रथम सोपान, 'घर से बेघर होकर निकल पड़ना' माना गया है। साथ ही दृष्टि व्यक्ति की अपनी होती है, इसलिए दूसरों की सहायता से अथवा स्वयं के ही प्रयत्नों से उसे अपनी दृष्टि का नाश करना पड़ता है। दृष्टि का नाश नितान्त

वैयक्तिक प्रक्रिया है और इसका लाभ व्यक्ति को ही होता है। प्रव्रजित लोगों के संघ आदि संगठनों का उद्देश्य उस संगठन के प्रत्येक सदस्य को व्यक्तिशः निर्वाण लाभ करने का एक अवसर उपस्थित करना तथा वातावरण तैयार करना है। ध्यान रखना चाहिए कि बौद्धों का नारा 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' है, सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय नहीं है। मैं 'बहुजन' शब्द के प्रयोग को बहुत महत्त्वपूर्ण मानता हूं। सर्वजन के हित के लिए ऐसा कार्य किया जाता है, जिससे किसी संगठन या समाज के सभी सदस्यों को, वे चाहें या न चाहें, लाभ प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए यदि यह विधान बनाया जाता है कि भूमि पर स्वामित्व भूमि को जोतने वाले का है तो वह अनपढ़ किसान भी जिसको इस विधान का पता नहीं है या जिसे भूमि पर अपना स्वामित्व प्राप्त करने की लालसा नहीं है, इस विधान से लाभान्वित हो जाता है। इसलिए इस प्रकार का कार्य सर्वजनहिताय होता है। परन्तु जब हम दृष्टि की बात करते हैं और साधनों को साधन बनाते हैं तो केवल उन्हीं लोगों को लाभ होगा, जो यह अनुभव करते हैं कि उनको दुःख से मुक्ति चाहिए और जो उस साधना के मार्ग को अंगीकार करते हैं। जिनको संसार में रहने के दुःख का अनुभव नहीं हो सकता, वे कदापि बौद्धों के संघ आदि संगठनों से लाभान्वित नहीं हो सकते। ये संगठन उन्हीं चुने हुए कुछ लोगों के लाभ के साधन हो सकते हैं जो बुद्ध या अंगुलिमाल की तरह दुःख से कातर हैं। इसलिए बौद्ध उपदेश बहुजनहिताय ही हो सकते हैं, पर मार्क्स की विचारधारा सर्वजनहिताय बन सकती है।

जब घर के मोह का त्याग ही आदर्श है तो समाज के प्रति मोह या सामाजिक मूल्यों के प्रति आस्था का तो बौद्ध दर्शन में कोई स्थान ही नहीं होना चाहिए। कहा जाता है कि घर को त्यागना नितान्त वैयक्तिक मूल्यों को त्यागने का एक प्रतीक है और इस त्याग का अर्थ है व्यक्ति का सार्वजनीकरण। बुद्ध अपने घर या वंश के नहीं, बल्कि लोकबन्धु थे। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि बुद्ध जैसे महापुरुष सबके कल्याण के लिए प्रयत्नशील थे। पर प्रश्न यह है कि क्या जिस प्रकार का कल्याण बुद्ध चाहते थे वह सही माने में सामाजिक कहा जा सकता है? समाज के बारे में चाहे जो भी सिद्धान्त हम मानें पर इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि समाज की स्थिति के लिए अर्थ, काम और दण्ड-व्यवस्था को छोड़ा ही नहीं जा सकता। पर बौद्धों की परिभाषा में अर्थ दुःख है, काम दुःख का मूल भार है और दण्ड प्राणातिपात आदि दोषों से हेय है।

बौद्ध आचार-संहिता में दान का बहुत महत्त्व है। यहां तक कहा गया है कि केवल दान के सहारे व्यक्ति निर्वाण-लाभ कर सकता है। इसका अर्थ है कि दान के पीछे आसक्ति के त्याग की भावना है। किसी वस्तु पर अपने स्वत्व को हटाकर दूसरे के स्वत्व का आपादन करना दान कहलाता है। वस्तु पर अपना अधिकार वस्तु के प्रति मोह के कारण उस वस्तु को अर्जित करने से होता है। इसलिए स्वत्व का भाव न केवल वस्तु के प्रति आसक्ति का भाव है, अपितु अर्जित करने के लिए सहे गए कष्ट के बदले उस वस्तु को पाने के सुख की भावना भी उस वस्तु के साथ जुड़ी होती है। ऐसी वस्तु जब दूसरों को दी जाती है तो दो अवस्थाएं सम्भव हैं। या तो काल, रुचि परिवर्तन आदि के कारण वस्तु के प्रति आसक्ति का लोप हो जाने पर वस्तु दूसरे को दे दी जाती है या फिर उस वस्तु से अधिक मूल्य की दूसरी वस्तु को प्राप्त करने की लालसा से उस वस्तु का विनिमय कर दिया जाता हैं। यदि पहली अवस्था हो तो कहना पड़ेगा कि दान में दी जाने वाली वस्तु में आसक्ति का अभाव होने के कारण वस्तु को दान में दे देना या फेंक देना या नष्ट कर देना एक ही बात है। दान में पात्र-अपात्र का विचार इसलिए किया जाता है कि दाता के मन में आसक्ति होने के कारण यह भाव रहता है कि वस्तु जहां जाए वहां उसका उचित उपयोग हो या फिर उस व्यक्ति के प्रति मोह के कारण जिससे उस व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति हो। अतः यदि दूसरे लोगों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए दान दिया जाता है तो यह दान की दूसरी अवस्था के अन्तर्गत ही आएगा। जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस दान के द्वारा दाता देय वस्तु के बदले दूसरों को सुखी देखने के संतोष को पाना चाहता है जो एक प्रकार की आसक्ति ही है।

साथ ही देय वस्तु पर दूसरे के स्वत्व का आपादन करने से दाता अपने सिर का भार दूसरों के कन्धों पर डालता है। दाता त्यागी बनकर निर्वाण लाभ करता है, पर प्रतिग्रह लेने वाला उस वस्तु के प्रति आसक्त हो जाने के कारण बन्ध में ही पड़ जाता है। दान से दाता को मोक्ष और लेने वाले को बन्ध मिलता है। यह उसी प्रकार की बात है जिस प्रकार एक तान्त्रिक साधक सिद्धि के लिए कन्या को माध्यम बनाता है और उससे मोक्ष प्राप्त कर लेता है पर उसकी सहचारिणी को बदले में समाज की लाञ्छना ही प्राप्त होती है, मोक्ष उसे नहीं, बल्कि साधक को ही मिलता है। अतः बौद्धों के द्वारा की गई दान की प्रवृत्ति को बढ़ाकर समाज में निष्क्रियता को प्रश्रय मिलता है। दान

के बारे में जो बात कही गई है, वह न्यूनाधिक रूप में हर प्रकार के त्याग पर लागू होती है। अतः दान आदि के महत्त्व के कारण बौद्ध आचार को सामाजिक कहना असंगत ही होगा।

मार्क्स विचारधारा तो दान के प्रत्यय के एकदम विरुद्ध है। वहाँ कोई वस्तु दी नहीं जाती, अर्जित की जाती है। अर्जन अधिकार है और हर व्यक्ति को इस अधिकार का प्रयोग करना पड़ता है। मार्क्स का 'अलिएशन' अथवा 'खंडितीकरण' का सिद्धान्त बतलाता है कि उत्पादक का उत्पादित वस्तु पर अधिकार न होने से मध्यस्थ व्यक्ति लाभान्वित होता है और उत्पादक को वेतन आदि दान के रूप में देकर वास्तविक उत्पादक मजदूर को दबाए रखता है। इसके प्रति विद्रोह करके वस्तु पर स्वामित्व प्राप्त करना मजदूर का अधिकार है, जो उसे लेना पड़ेगा। इस प्रकार मार्क्स वस्तु पर स्वामित्व (आसक्ति) प्राप्त करने का ही मार्ग दिखलाता है, स्वामित्व के त्याग द्वारा दान से किसी के पोषण की बात मार्क्स की दृष्टि में नितान्त गर्हित होती है। इसलिए बौद्धों का दान असामाजिक है और मार्क्स की विचारधारा पूर्णतः सामाजिक।

बुद्ध ने कल्याण का मार्ग दिखलाया और वे प्रताड़ित दुःखी व्यक्ति के लिए करुणा से द्रवित होकर सब कुछ त्याग कर चुके थे और कर सकते थे। लेकिन जिस प्रकार का कल्याण बुद्ध चाहते थे, वह मार्क्स के अभीष्ट कल्याण से एकदम भिन्न था। बुद्ध ने निर्वाण में परम कल्याण देखा और निर्वाण का साक्षात्कार कराने के लिए प्रयत्नशील रहे। निर्वाण क्लेशों से मुक्ति का नाम है और क्लेश अविद्याजनित हैं। इसलिए अविद्याजनित क्लेश से मुक्ति की तुलना मार्क्स द्वारा प्रतिपादित आर्थिक विषमता से मुक्ति के साथ कदापि नहीं की जा सकजी। मार्क्स दलित लोगों के संगठित विद्रोह के द्वारा आर्थिक सत्ता जनता के हाथ में लेने का अनुमोदन करते हैं, पर बुद्ध द्वारा अनुमोदित भिक्षुसंघ संगठित होकर भी कुछ नहीं पा सकता, सिवाय एक धार्मिक और मनोवैज्ञानिक वातावरण तैयार करने के। सब कुछ होते हुए भी बौद्ध मत एक धार्मिक मत है, जिसमें संसारातिक्रान्त तत्त्व के प्रति भावना का महत्त्व है। यह संसारातिक्रान्तता की धारणा मार्क्स के अनुसार सामाजिक समस्याओं से मुंह मोड़ने की प्रेरणा देने के कारण अफीम की पिनक के अन्तर्गत ही आएगी।

सभी व्यक्ति समान हैं पर मार्क्स और बुद्ध के अनुसार समानता का अलग-अलग अर्थ है। मार्क्स के अनुसार समानता आर्थिक और सामाजिक है। बुद्ध के अनुसार यह आध्यात्मिक है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था पर आधारित

समाज साम्यवादी अर्थव्यवस्था पर आधारित समाज के समान कभी नहीं हो सकता और दोनों में संघर्ष मार्क्स के अनुसार आवश्यक है। इसका अर्थ हुआ कि समानता एक व्यवस्था के अन्तर्गत ही मार्क्स को मान्य है, उस व्यवस्था के बाहर विषमता का होना आवश्यक है। इसके विपरीत बौद्धों की समानता का आधार कोई व्यवस्था नहीं, बल्कि किसी का प्राणी होना है। प्राणिमात्र प्राणी होने के कारण कुछ मानों में समान हैं और उसी के आधार पर अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि का आचरण करना चाहिए। बौद्ध सर्वदा संघर्ष से दूर रहने का ही उपदेश देते हैं, कार्ल मार्क्स संघर्ष में ही प्रगति और मुक्ति देखते हैं। इसलिए मार्क्सवादी शूद्रों का पक्ष इसलिए लेते हैं कि वे आर्थिक दृष्टि से प्रताड़ित हैं पर बौद्ध इसलिए कि वे शूद्र भी उच्च वर्णों की तरह मनुष्य हैं।

विद्वान् कहते हैं कि मार्क्स और बौद्ध दोनों की तर्क प्रणाली द्वन्द्वात्मक है। पर मैं दोनों में भेद पाता हूँ। मार्क्स के अनुसार पक्ष और प्रतिपक्ष में संघर्ष होने पर तृतीय कोटि उत्पन्न होकर पक्ष-प्रतिपक्षों को आत्मसात् करती है। माध्यमिक बौद्ध पक्ष-प्रतिपक्ष के संघर्ष में दोनों का विनाश मानते हैं और किसी अन्य कोटि की उत्पत्ति नहीं मानते। अतः मार्क्स के अनुसार पक्ष-प्रतिपक्ष के संघर्ष नित्य हैं। बौद्धों के अनुसार कोटियों का नाश होने पर पुनः कोटि का संघर्ष उत्पन्न नहीं होता। यही कारण है कि निर्वाण से च्युति बौद्ध नहीं मानते।

अतः जो लोग बौद्धदर्शन तथा मार्क्सवाद में समानता देखकर झटिति निर्णय कर लेते हैं कि दोनों एक दूसरे के पूरक हो सकते हैं। उन्हें न तो मार्क्सवाद की आधारशिला का ध्यान रहता है और न ही बौद्धों की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का। भेद देखना दर्शन का मूल प्रयोजन है और दार्शनिक अपने कर्म से च्युत हो जाता है, जब वह भेद में भी अभेद देखने लगता है।



Buddha and Karl Marx

Dr. B. R. Ambedkar

The late Dr. B. R. Ambedkar's speech at the 4th conference of the World Fellowship of Buddhists at Kathmandu on 20-11-1956. The conference which was attended by Dr. & Mrs. B. R. Ambedkar, Shri B. H. Varale, Prof. M. B. Chitnis and others, was presided over by King Mahendra of Nepal.

President, Your Reverences, and Gentlemen :

I am very sorry that, having come to Nepal to attend the Conference, I have not been able to participate in its proceedings in the way in which a delegate ought to participate. But I am sure, most of the delegates are aware that although I am here, I am physically a very ill man, and I am quite unable to bear the stress and strain of the Conference proceedings. It is therefore, not out of any disrespect for the Conference that I have been usually absent, it is because of my personal condition that I could not do justice to the tassk of the Conference. It is perhaps because of my absence from the Conference that I was asked by way of compensation to address you this afternoon. I consented to do that, but even here there have been surprises flung on me. I had not enough notice that I was to speak here. And when I was asked what subject I would speak on, I

mentioned the subject of "Ahimsa in Buddhism". But I find that a large majority of the people attending this Conference are desirous that I should speak on 'Buddhism and Communism" a subject to which I, in a very passing sentence, referred at the first General Meeting. I am quite prepared to agree to the suggestion of the change of subject, although, I must say that I am not quite on the spur of the moment prepared to deal with such a large, enormous and if I may say so, a very massive subject. It is a subject which has had half the world in grips, and I find that it has held also in its grip a large number of the student population even of the Buddhist countries. I look upon the latter aspect of the matter with grave concern. If the younger generation of the Buddhist countries are not able to appreciate that Buddhism supplies a way of life which is better than what is supplied by the Communist way of life, Buddhsim is doomed. It cannot last beyond a generation or two. It is, therefore, quite necessary for those who believe in Buddhism to tackle the younger generation and to tell them whether Buddhism can be a substitute for Communism. It is then only that Buddhism can hope to survive. We must all remember that today a large majority of the people in Europe and a large majority of the youngsters in Asia look upon Karl Marx as the only prophet who could be worshipped. And they regard the largest part of the Buddhist Sangha as nothing but the yellow peril. That is an indication which the Bhikkhus must take up, must understand, to reform themselves in order that they could be compared with Karl Marx; and Buddhism could compete with it.

Now, with this introduction I propose to give you a few salient points in Buddhism and in Marxism or Communism in order to show you where the similarity of ideals lies and where the differences arise between Buddhism and Marxism. And thirdly, whether the Buddhist way of life of reaching the goal which Communism has, is a lasting one, or whether the Communist way of bringing about the goal is the lasting one. Because, there is no use in pursuing a certain path, if that path is not going to be a lasting path, if it is going to lead you to the jungle, if it is going to lead you to anarchy, there is no use of pursuing it. But, if you are assured that the path you are asked to follow is slow, may be devious, may be with long detours, yet if it ultimately makes you reach a safe, sound ground so that the ideals you are pursuing are there to help you, to mould your life permanently, it is much better, in judgement, to follow the slower path, and the devious path rather than to rush up and to take what we call short cuts. Short cuts in life are always dangerous, very dangerous.

Now let me go to the subject. What is the theory of Communism? What does it start with? Communism starts with the theory that there is exploitation in the world, that the poor are exploited by the rich because of property that they hold, and they enslave the masses, that enslavement results in suffering, sorrow, in poverty. This is the starting point of Karl Marx. He uses the word 'exploitation'. What is the remedy that Karl Marx provides? The remedy that Karl Marx provides is that in order to prevent poverty and the suffering of one class it is necessary to remove private

property. Nobody should possess private property because it is the private owner who appropriates or misappropriates, to use the teachnical language of Karl Marx, the surplus value which the workers produce. The worker does not get the surplus value which he produces. It is appropriated by the owner. Karl Marx asked the question why should the owner misappropriate the surplus value which is Produced by the efforts of the working man ? His answer is that the only owner is the State. And it is because of this that Marx propounded the theory that there must be the dictatorship of the proletariat. That is the third proposition that Marx enunciated. That Government must be by the exploited classes and not by the exploiting classes, which is what is meant by dictatorship of the proletariat. These are fundamental propositions in Karl Marx, which have the basis of communism in Russia. They have undoubtedly been expanded, it has been added too, and so on. But these are the fundamental propositions.

Now, let me, for a moment, go to Buddhism, and see what the Buddha has to say about the points made out by Karl Marx. As I told you, Karl Marx begins with what is called exploitation of the poor. What does the Buddha say ? How does he begin ? What is the foundation on which he has raised the structure of his religion ? The Buddha, too, 2000 or at any rate 2400 years ago, said exactly the same thing. He said, *"There is Dukkha in the world." He did not use the world 'exploitation, but He did lay the foundation of His religion on what He called 'Dukkha.' There is 'Dukkha' in the world. The world 'Dukkha, no doubt has been interpreted in*

various ways. It has been interpreted to mean rebirth, the round of life, that is 'Dukkha., I do not agree with that. I think there are lots of places in the Buddhist literature where the Buddha has used the world 'Dukkha' in the sense of poverty. Therefore, So far as the foundation is concerned, there is really no difference at all.

It is unnecessary for the Buddhist people to go to Karl Marx to get the foundation. That foundation is already there well laid. It is where the Buddha begins his first sermon—the Dharma-chakra-pravartana. Sutta. Therefore, to those, who are attracted by Karl Marx, I say, study the *Dharmachakrapravartana sutta and find out what the Buddha says. And you will find sufficient satisfaction on this question. The Buddha did not lay the foundation of His religion either on god or on soul or anything supernatural like these. He laid His finger on the fact of life, people are living in suffering. Therefore, so far as Marxism or Communism is concerned, Buddhism has enough of it. And the Buddha has said it 2000 years before Marx was born.*

With regard to the question of poverty, you will again fine some close affinity to the doctrine of the Buddha and the doctrine preached by Karl Marx. Karl Marx said that in order to prevent exploitation, the State must own the instrument of production, that is, property. Land must belong to the State, industry must belong to the State, so that no private owner might intervene and rob the worker of the profits of his labour. That is what Karl Marx said.

Now, let us go to the Sangha, the Buddhist Sangha and examine the rules of life that the Buddha laid down for the monks. What are the rules that the Buddha laid down ? Well, the Buddha said that no monk shall have private property. Ideally speaking, no Monk can own property. And although there might be few lapses here and there and I have noticed that in some countries the monks own some property, yet in the large majority of the cases the monks have no property at all; fact that Buddhist rules for the Sangha are far more severe than any rule that the Communists have made in Russia. I take it as a mute subject, nobody has discussed it and come to any conclusion

What object did the Buddha have in forming the Sangha ? Why did he do it ? Going back a little into the history when the Buddha engaged in propagating His religion, those who today call the "Parivrājakas" were existing there long before the Buddha was there. The word "Parivārjaka" means a displaced person, a person who has lost his home. Probably during the Aryan period the different tribes of the Aryans were warring against one another as all tribal people do. Some broken tribes left their moorings and they were wandering about. And it is those wanderers that were called Privrājakas. The great service that the Buddha did to these Parivrājakas was to organise them into a body, to give them rules of life those that are contained in the 'vinayapiṭaka'. In the rules, the Bhikkhu is not allowed to have property. The Bhikkhu is allowed to have only seven thing—a razor, a lota for getting

water, a Bhikshāpātra and three Chīvaras and the needle for sewing things. Well, I want to know if the essence of Communism is to deny the private property can there be any greater and more severe rule as regards private property than is found in the 'Vinaya-piṭaka'? I do not find one. Therefore, if any people or any youngsters are attracted by the rule contained in the Communist system of rules that there shall be no private property, they can find it here. The only question is to what extent can this rule of denial of property be applied to society as a whole? That is, a matter of expediency, time, circumstances, development of human society. But, so far as theory is concerned, whether, there is anything wrong in abolishing private property, Buddhism will not stand in the way of anybody who wants to do it; because it has already made this concession in the organisation of the Buddhist sangha.

Now, we come to another aspect of the matter, and that aspect is—what are the way and means which Karl Marx or the Communists wish to adopt in order to bring about Communism? This is the important question. The means that the Communists wish to adopt in order to bring about Communism (by which I mean the recognition of Dukkha, and abolition of property) is violence and killing of the opposed. There lies the fundamental difference between the Buddha and Karl Marx. The Buddha's means of persuading people to adopt the principles is by persuasion, by moral teaching, by love. He wants to conquer the opponent by inculcating in him the doctrine that love and not

power can conquer anything. That is where the fundamental difference lies—that the Buddha would not allow voilence, and the Communists do. No doubt the Communists get quick results; because when you adopt the means of annihilating men, they do not remain to oppose you.

You go on with your ideology, you go on with your ways of doing things. The Buddha's way, as I said, is a long way, perhaps some people may say, a tedious way. But, I have no doubt about it that it is the surest way.

There are two or three question which I have always asked my communist friends to answer and which, I must frankly say, they have not been able to answer. They established by means of voilence what they call the dictatorship of the proletariat. They deprive all people who have property of political rights. They cannot have representation in the legislation, they cannot have right to vote, they must remain what they call second great subjects of the state, the ruled, not sharing authority or power. When I asked them, 'Do you agree that dictatorship is a good method of governing people ? They say "No, we don't, we don't like dictatorship.' Then we say, "How do you allow it ?' But they say, "This is an interim period in which dictatorship must be there." You proceed further and ask them, 'What is the duration of this interim period ? How long ? Twenty years ? Forty years ? Fifty years ?" No answer. They only repeat that the proletarian dictatorship will vanish, somehow automatically.

Very well, let us take the thing as it is that dictatorship will vanish. Well, I ask the question, "What will happen when dictatorship disappears ? What will take its place ? Will man not need Government of some sort ?" They have no answer.

Then we go back to the Buddha and ask this question in relation to His Dhamma. What does he say ? The greatest thing that the Buddha has done is to tell the world that the world cannot be reformed except by the reformation of the mind of the man, and the mind of the world. If the mind is changed, if the mind accepts the Cammunist system and loves it loyally and carries it out it is a permanent thing, it does not require a soldier or a police officer to keep a man in order. Why ? The answer is : The Buddha has energised your conscience itself that is acting as a sentinel in order to keep you on your path. There is no trouble when the mind is converted, the thing is permanent.

The Communist system is based on force. Supposing tomorrow the dicatatorship in Russia fails, and we see signs of failure, what would happen ? I really like to know what would happen to the communist system. As I see it, there would be bloody warfare among the Russian people for appropriating the property of the state. That would be the consequence of it. Why ? Because they have not accepted the Communist system voluntarily. They are obeying it because they are afraid of being hanged. Such a system can take no root, and therefore, in my judgement unless the Communists are able to answer these questions, what would happen to

their system ? When force disappears ? There is no use pursuing it. Because, if the mind is not converted, force will always be necessary, and this is what I want to say in conclusion that one of the greatest things I find in Buddhism is that its system is a democratic system. The Buddha told the Vajjis when the Prime Minister of Ajata Satru went to tell the Buddha, that Ajata Satru wanted to the conquer Vajjis, he said the King won't be able to do it as long as Vajjis follow their ways of their aged-old system. The Buddha for the unknown reason did not explain in plain terms, what he meant. But there is no doubt about it that what he was referring to was the democratic and the republican form of the government, which the Vajjis had. He said ; so long as the Vajjis were following their system, they would be unconquered. The Buddha, of course, was a great democrate.

Therefore, I say, and may so if the President will allow me, I have been a student of politics ; I have been a student of Economics, I was a Professor of Economics, and I have spent a good deal of time in studying Karl Marx, Communism and all that, and I have also a good deal of time in studying the Buddha's Dhamma. After comparing the two I came to the conclusion that Buddha's advice with regard to the great problem of the world, namely, that, there is Dukkha, that Dukkha must be removed, that the Buddha's method was the safest and the soundest.

Thus do I advise the younger generation of the Buddhist countries to pay more attention to the actual

teaching of the Buddha. If I may say so in conclusion if any peril arises to the Dhamma, in a Buddhist country the blame shall have to be cast upon the Bhikkhus, because I personally think that they are not wholly discharging the duty which devolves on them. Where is the preaching ? The Bhikkhu is living in his closter taking his meal one meal, no doubt and sitting quietly probably he is reading, and most probably I find them sleeping, and in the evening having a little music. That is not the way of propagating religion.

My friends, I want to tell you, I do not want to criticise anybody, but religion, if it is to be a moral force for the regeneration of society, you must constantly din it into the ears of the people. How many years has a child to spend in school ? You do not send the child to school on a day and then withdraw the child home and expect the child to grow into learning to get education. The child has to go to school everyday, sit there for five hours and study constantly. It is then, and then alone that the child gets some what saturated with what is called knowledge and what is called learning. Here the monastery is not a state. The Bhikkhus do not call the people to the monasteries on any single day and deliver sermon to them on some subject or moral education. I have never seen it.

I went to Ceylon and I told some people that I was particulary anxious to see how the Bhikkhus preach. They told me that they got 'Dana'. Dana is some word they use which, I subsequently learnt, meant 'Vanaka, They took me at 11 o'clock to one place, to a small little

square thing as big as this table and I sat on the ground. A Bhikkhu was brought in. Several men and women brought water and washed his feet and he came up and sat there. He had a fan with him, you see, gods only know what he said. Of course, he must have preached in Singhalese, it was not more than two minutes, after two minutes he departed.

You go to Christian Church. What happens? Every week people assemble there. They worship. and some priest delivers a sermon on some subject from the Bible in order to remind the people what Jesus told them that they should do. You will be probably surprised, most of us are, that 90 percent of Christianity is copied from Buddhism both in substance and in form. You go to Rome, see the main Church and you will be reminded of the big temple which is known as 'Vishwa-karma' at Berut.

Vishabigne, who wrote a book on Buddhism, and was missionary in China had expressed his great surprise as to how this similarity occurs between Buddhism and Christianity, So far as the outlook, he dared not say that thc Buddhist copied Christian, but he would not admit that the Christian copied Buddhism. There is so much of it, I think time has turned and we must now copy some of the ways of the Christians in order to propagate our religion among the Buddhist people. They must be made aware, everyday and all time, that the Buddha's Dhamma is there, standing by them a policeman to guard let they should go to wrong way. Without that this religion remain probably in a very decadent

state. Even now that I find it even in the Buddhist countries its condition is very decadent. But its influence is there. No doubt about it.

I wanted to tell you one very interesting epilogue which I saw in Burma. I went to Burma. I was called for the Conference and they took me to show how they were going to reconstruct the villages. I was very happy. I went with them and the committee had planned to reform the village. Their streets as usual were crooked, bent here, and there, nothing systematic. So the committee put down iron pillars and lined ropes that this street must go this way. In good many cases I found that the lines drawn by the committee went across a piece of land which was owned by a private individual. When I went and saw and I asked them "How are they going to manage ? Have you got money to pay for the property that you are going to take?" they said, "Nobody wants money." Everybody said, "If you want it, take." Why is this ? Why, in my country there would have been bloodshed if you take a little piece of the land from somebody without giving his compensation. But there it is, Why ? Why were the Burmese so free with their property ? Why did they not care for it ? It is because the Buddha has taught 'Sarvam Anityam.' Everything, you see, is impermanent. Why fight for impermanent things ? It is all right if you want the land, take it.

Now ladies and gentlemen, I do not think I can continue any further, nor is it necessary for me to do that.

I just wanted to give you a point of view from which to look at. Do not be allured by Communist successes. I am quite confident that if you all become one tenth as the enlightened as the Buddha was, we can bring about the same result by the methods of love, of justice and goodwill, Thank you very much.

हिताशंसनमात्रेण बुद्धपूजा विशिष्यते ।
किं पुनः सर्वसत्त्वानां सर्वसौख्यार्थमुद्यमात् ॥
(बोधिचर्यावतारः १:२७)

Buddhism And Marxism

—Dr. Dayal Saran Verma



The title implies a question : Is it logically and circumstantially relevant to bring together and make comparison between these two systems of thought and culture, so much away from each other in the historical time and the geographical space. Buddha and Marx take birth in different culturecontinua, form their doctrines in different philosophical and social back-grounds and propound their systems of thought, which prima-facie deny each other. Contrast seems here to be more conspicuous than similarity. One, i. e., Marxism is concerned with the problems of this world only, while Buddhism seems to be other-worldly; one has been given the epithet of materialism, while the other is treated as spiritualism; one is anti-religion, while other is obviously a religion; one seeks happiness through violent revolutions, while the other seeks non-violence and peace. Marxism does not ask man to denounce desires. Only when man pursues his own interests, the laws of social dynamics manifest themselves and only when these 'iron laws' fulfil themselves unfettered the cherished goal of human happiness is achieved. But Buddhism, as we all well know, denounces desire and finds in it the cause of all unha-

ppiness. The symbolism of Sansara, in the midst of which man lives, is of his own creation and man is caught in the net of his own cobweb.

But with all these contrasting qualities in them the comparison is relevant, both logically and circumstantially. Not only that, we are required to take one more step and say that they complement each other. We have reached a period in the history of mankind where we connot ignore their logical nearness and the possibility of their working together for human happiness.

Before, I proceed further, it is necessary here to explain the two words I have used above in a technical sense : logical relevance and circumstantial relevance. A doctrine is logically relevant to the other (a) if it consistently comprehends the other, or (b) if it is so comprehended by the other, or (c) if both of these doctrines can be shown to be comprehended consistently by a third one. A doctrine is circumstantially relevant to the other if it helps in resolving the impasse, political or social, created by the other.

Now I shall first take summarily the logical relevance of these two systems. Buddha and Marx both reacted actively and humanly to the problem of Dukha as they saw it. The fields in which their reactions occurred were different but not their method. Their reaction was rational for they tried to explain Dukha in terms of a causality which does not seek any non-empirical category for explanation. The Dukha is not a creation of some mystical force, of some divine curse, of some

Original Sin (as the Christian would have it), of Karmas which have polluted the soul. The Dukha is there, because there are the objective conditions which have created it. When the spontaneity of animal impulse falters, one comes into one's own reflective existence and begins to despair. Frustration of desire and the consequent despair both are unavoidable and universal, and man's mind is so constructed that he is required compulsorily to witness consciously this fatality. But it is this reflective existence which makes for man possible to analyse the nature of this fatality and decondition himself from it. Buddha analysed the objective conditions and found them in man's mental life. In this analysis, Buddhism evolved a systematic Psychology of Dukha. It is in the actual history of man, in his mental biography, which follows the same pattern everywhere, that we should seek explanation for man's behaviour.

Marx, on the other hand, propounds a sociology of Dukha. For explanations and solutions of man's ailments, he wants us to analyse the historically determined objective conditions of social life. Buddha and Marx sought different fields for explanation. One dealt with psychology while the other with sociology of Dukha; but both remained committed to rational methods and referred to empirical facts as explanation. Mysticism could find no favour with them.

They, both were disillusioned with speculative philosophy, with the dogma of pure thought and pure substance. Dogmatic metaphysics is probably the greatest and most subtle enemy of reason for it functions in the

garb of rationalism. Intricate systems are created, technical jargon is introduced and categories having a semblance of reason are created. Philosopher keeps himself busy with these nonsensical categories, claims that he is busy with finding solutions, and mankind groans under the weight of their plethora. Nero fiddles while Rome burns.

We know well that Buddha refused to be drawn into dogmatic metaphysical discussions. He declared certain questions to be inexpressibles (Avyakrita). The example of a foolish man wounded by an arrow who, before being attended to, would like to know what sort of arrow struck him, whence it came, etc. (as described in 'Cula Malunkya sutta') proves nothing, but explains vividly how urgent was the problem of Dukha for Buddha and how futile he thought the discussions of dogmatic metaphysics. Buddha had a practical and empirical solution, which he had already tested and which had worked and, therefore, there was no need for him to create ghosts and gods for providing man with make-believes for solutions.

It is almost in the same vein that Marx rejects dogmatic metaphyics. Its doctrines are not solutions for man's ailments but a result of it, a result of class struggle and an instrument which serves the purpose of conditioning man's mind to his own oppressive condition. They are all 'dristis' if you permit me this Buddhist expression. In pursuit of his sociology Marx begins with man and the life he actually lives in a society. "The premises from which we start", he says, "are not arbi-

trary, they are not dogmas; they are real premises, from which abstraction can be made only in imagination. They are real individuals, their action and their material conditions of life, both those which they find in existence and those produced through their own actions. These premises can therefore be verified in a purely empirical way". (The German Ideology)

Still they know that metaphysics is not 'nonsensical' as the positivists of today claim it to be, and in place of dogmatic metaphysics they, in their own ways, put forth a concept of dialectical metaphysics. Metaphysics is necessary, for the first, to defend oneself from dogmatic metaphysics, from a thinking which seeks to establish eternal and permanent things as well as categories of thought. A dogmasic rejection of such a thinking or dristi is again a kind of dogmatic metaphysics. One does not achieve even a semblance of freedom by it. For its rejection we have to analyse them and find out material as well as formal fallacies involved in them. A prasanga (Reductio ad Absurdum) is necessary, not because it is an instrument of proof, but because it is an instrument of refutation.

Metaphysics is necessary, secondly, because in place of ready-made eternal things we have to understand processes. "The world is not to be comprehended as ready-made things", said Engels "but as a complex of processes, in which the things apparently stable no less than their mind images in our heads, the concepts, go through an uninterrupted change of coming into being and passing away". ('Ludwig Feuerbach'). Two basic

doctrines of Buddhism, the doctrines of Pratitya samutpād and of 'Sunyatā' lay the foundation of this dialectical metaphysics.

The psychology and the sociology of Dukha as propounded by Buddhism and Marxism respectively are complementary and combined they give a more comprehensive picture of man's misery, and in a very consistent way they are comprehended by the concept of dialectical metaphysics, which they both propounded in their anti-dogmatic fervour.

I have yet to point out their circumstantial relevance. Marxism, let me summarise it in a forthright manner, has no systematic value-philosophy, nor was it possibly the purpose of its author; and, therefore whenever it has faced the issue of values in the context of modern social conditions it has faltered and has made violence its instrument. There are no eternal categories of values, still values play an important role in life and they have an existential significance. Whether we seek freedom from Dukha or from exploitation, it is a value, and we must put forth a philosophical justification for our efforts in that direction and must develop a rational process to evaluate a value in a particular situation. It is, as Kant says, a question of practical reason.

The Buddhist concept of the middle path and its eight fold ways has the potential to grow into a consistent value-philosophy and can help man in this crisis-ridden modern world. The middle path is not an opportunist adjustment between two extremist doctrines, but a

rational process of seeking the truth in a particular situation. A dynamic value or dharma (as the word 'dharma chakra pravartana' indicates) is not a formal repetition of the words of Sastras. It is a dharma which faces problems squarely and inspires us to sacrifie our narrow interest on its altar.

The Buddhist Conception of Matter and the Material World

K. N. Jayatilleke

We are all familiar with the visible and tangible world around us which we call the material world We contrast it with what is mental and consider it to exist independently of our thoughts. We have learnt much about it from science during the last few decades but hope to learn much more about in the future. A knowledgeable scientist[1] who sums up the modern conception of matter in the light of the recent findings of science, says : Matter is the world around us; it is everything we see and feel and touch. It seems thoroughly familiar—until we read in the following pages what the scientists have discovered about it within the last fifty years, the last twenty, the last two. The diamond, for example seems on the face of it resplendently substantial. But as we read on, we find that the diamond is a patterned arrangement of atoms which are themselves mainly empty space, with infinitesimal dabs of electrons whirling around infinitesimal dabs of protons and neutrons. All this we now know to be matter, but we are by no means sure the picture is complete. Within the minuscule heart

1. See *Matter*, LIFE Science Library, Time-Life International. 1963, p. 7.

of the atom—the nucleus—have been found no fewer than thirty kinds of elementary particles, and no one can say what more will emerge under unclear bombardment. The further scientists analyse, the less obvious the answers become".

Buddhist View

The coneeption of matter that is generally found in the Buddhist tradition, except in the extreme idealist school of though (Vijñāna-vāda), is essentially the same. The objectivity of the material world is a affirmed. It is said that Rūpa or Matter is not mental (acetasikaṁ) and is independent of thought (citta-vippayuttaṁ).

Such matter is classified into three categories. First, there is the category of mattr or material qualities, which are visible (sanidassanaṁ) and can be apprehended by the senses (sappaṭighaṁ)--such as colours and shapes. Secondly, there is matter which is not visible (anidassana) but reacts to stimuli (such as the five senses) as well as the objects of sense which can come into contact with the appropriate sense organs (excluding the visual objects which fall into the first eategory). Thirdly, there is matter which is neither visible to the naked eye nor apprehensible by the senses but whose existence can either be inferred or observed by paranormal vision. Such, for example are the essenccs (ojā) of edible food (kabalinkārāhāra), which are absorbed by our bodies and sustain it. Today we call them proteins, carbohydrates, vitamins etc., but in the Dhammasangani the essence (ojā) of edible food is classified as subtle (sūkbuma)

matter, which is not directly observed or apprehended by the sense-organs. The subtle matter of 'the realm of of attenuated matter' (rūpa-dhātu) would also fall into this last category.

In this same category one would also have to include the atom (paramāṇu, which is said to be so small that it occupies only a minute portion of space (ākāsa-koṭṭhāsika) as the Commentary to the Vibhanga (p 343) states. The Sub-commentary to the Visuddhimagga observes that the atom "cannot be observed by the naked eye but only comes within the range of clairvoyant vision" (maṁsa-cakkhussa āpāthaṁ nāgacchati, dibba-cakkhuss' eva āgacchati, p. 286). If this is so, then the Buddhist and some of the Indian atomic theories are not the product of pure rational speculation (like those of the Greeks) but are partly the resulf of extra-sensory perception as well.

Yet what is remarkable about the Buddhist atomic theories as against the other Indian and Western classical atomic theories, is that they were able to conceive of the atom as existing in a dynamic state. As one scholar (Professor A. L. Basham) puts it, "the atom of Buddhism is not eternal as in the other three systems since Buddhism dogmatically asserts the impermanence of all things"[2] Another scholar (Professor Arthur Berriedale Keith) brings out the essentially dynamic conception of the Buddhist theory of tha atom when he says that the atom is conceived as 'flashing into being, its essential feature

2. History and Doctrines of the Ajivakas, Luzac & Co., London, 1951, p. 267.

is action or function and therefore, it may be compared to a focus of energy".[3] We may compare with it what a modern physicist says of the atom: "The old view of its simple discrete particles and precise planetary orbits is gone. The physicist now prefers to view the atom as a ball of energetic and uncertain fluff".[4] We may recall that even the early Buddhist texts compared matter to a 'lump of foam' (phena-piṇḍa).

Atomic Theory

The atomic theories developed only in the schools of Buddhism which, apart from the general notions that they shared, did not always agree among themselves about the nature of atoms. For example, one school (Sautrāntikas) held that atoms have spatial dimensions (did-bhāga-bheda) while their opponents (Vaibhāṣikas) denied this arguing that the atom nas no parts and no extension. This dialectical opposition led to a situation in which the Idealists argued that the conception of the atom leads to contradictions. If the atom has some finite dimension, however small this may be, it is further divisible and therefore it is not an indivisible unit or an atom. On the other hand if the atom had no spatial dimension at all, it is a non-entity and material objects having a spatial dimension cannot be composed of them. So the Idealists argued that the atom was a self-contradictory concept and as such atoms could not exist. Since atoms did not exist, there was no material world. So they concluded that the material world was an appearance

3. Buddhist Phiiosophy, Oxford, 1923, p. 161.
4. Matter, LIFE Science Library, p. 158.

created by our own minds like some of the objects in the mind of a hypnotised subject.

The mistake that all these schools committed was to try and prove or disprove the existence of atoms by pure reasoning. As the Buddha pointed out in the Kālāma Sutta, we cannot discover or discern the nature of things as they are by pure speculative reasoning (takka). It is only when reasoning is closely tied up with experience that there is a discovery of facts in the objective world. For this reason we have either to follow the method of experimental science which is a matter of controlled observation guided by reasoning or of developing our our extra-sensory powers of perception by meditation if we are to understand things as they are.

Judging by result the Theravādins seem to have kept their speculations close to the findings of jhānic or extra-sensory observation. The vaibhāsikas spoke of the ultimate element of matter as the dravya-paramāṇu or the 'unitary atom' and contrasted with this the sanghāta-paramāṇu or the aggregate atom, which we today call a 'molecule'. It is significant that the Theravādins conceived of even the atom (dravya-paramāṇu) as a complex (rūpa-kalāpa) and spoke even of 'the constituents of this complex atom' (kalāpanga) at the same time considering such an atom to be in a dynamic state of continuous flux.

A table given in the Commentary to the Vibhanga makes it possible to compare the size of an atom as conceived of in medieval Buddhism with modern conceptions. If we follow this table an average of 36 paramāṇus

equal one aṇu, 36 aṇus equal one tajjāri and 36 tajjāris equal one ratha-reṇu. A ratha-reṇu is a minute speck of dust which we can barely appreciate with the human eye. According to this calculation there are 46,656 atoms in such a minute speck of dust. Now modern scientists think that an average of about 100,000,000 atoms placed side by side in a row would amount to about an inch in length. If so, there would be ten million atoms in a tenth of an inch and a two hundredth portion of this would have 50,000 atoms. Although the comparison is to some extent arbitrary, the figures given in the Vibhangattha-kathā do not appear to be far divorced from reality

Original Buddhism

At the same time we must not forget that it was not the intention of the Buddha to give a detailed account of the physical world. As the Buddha pointed out in the Simsapa forest taking a few leaves into his hand, what he taught amounted to the leaves in his hand while what he knew but did not teach was comparable in extent to the leaves in the forest.

If there are priorities in the accumulation of knowledge man should first and foremost learn more about his own nature and his destiny in the universe rather than about the nature and origin of the universe. A man who is struck with an arrow should try to remove the arrow first before endeavouring to discover the nature of the arrow and who shot it.

Nevertheless, a general understanding of the nature of the physical world is also useful in that it helps us in knowing the nature of things as they are.

The Buddhā himself did not disclose any details of an atomic theory but there are passages in which he points out unmistakeably that the minutest portion of matter in the world is in a state of constant flux. On one occasion a monk asks the Buddha as to whether there was any form or kind of matter (rūpa) which was eternal, stable, lasting not subject to constant change and everlasting. The Buddha replies that there is no such matter. He than takes a speck of sand on to the tip of his nail and says 'Even such a minute bit of matter is not eternal, stable or lasting is subject to constant change and is not everlasting".

What we claim to know with regard to the physical world would not ammount to knowledge if it does not reflect the state of things as they are, but such khowledge, once acquired, is to be made use of for one's moral and spiritual development. The significance of the above statement is that even existence in a subtle-material world (rūpaloka) is not everlasting and that we cannot hope to attain final salvation by attachment even to such an ethereal body. So while early Buddhism gives a realistic account of the essential nature of the physical world, this is done mindful of the psychological and ethical impact of these teachings.

Definition

The totality of matter is classified in the Buddhist texts with reference to time as past, present and future; with reference to the individual as internal and external; with reference to the nature of matter as gross and

subtle, with reference to the value of matter as base and ethereal and with reference to space as near and distant (M. III. 16).

At the same time the Matter spoken of is not just dead matter but living matter as well. The concept includes both the organic as well as the inorganic realms of matter. In this respect, we must not forget that according to Buddhist conceptions, life (jivitendriya) is a by-product of matter (upādārūpa).

In the Abhidhamma too, we notice in the Dhammasangani that when describing the nature of the totality of matter we find references to the psychological and ethical aspects of its impact. Matter is causally conditioned (sappaccayaṁ), impermanent and subject to decay (aniccam eva jarābhibhūtaṁ) It is to be found in the gross world of sensuous gratification (kāmāvacara) as well as the subtle material world (rūpāvacara). In itself it is morally neutral being neither good nor evil (avyākata). But it can be cognised by the six kinds of cognition (i. e. by means of the senses and the understanding) and it is the kind of thing around which sentiments can be formed (upādāniya). It is also the kind of thing that can act as a fetter (saññojaniya) although the fetter does not lie in matter as such but in the attachment to matter.

In the earliest texts rūpa in its widest sense of 'matter' as including the organic body as well as the external physical world is defined as 'what undergoes change' (ruppatī) under the impact of temperature (such

as heat and cold), atmospheric changes (such as wind and heat), organic affections such as hunger which is defined as 'heat inside the belly' (udaraggisantāpa) as well as thirst and the changes affected by the bite and sting of gnats and snakes etc. The general definition that is adopted in the commentaries is that matter (rūpa) is so called because "it undergoes change, i e. becomes subject to modifications under the impact of cold and heat etc. "(ruppatiti sita-uṇhadihi vikaram apajjati).

Primary Material Forces

If we apply the definition at the level of sense-observation or the empirically observable world matter is what undergoes change under the impact of temperature, i. e. heat or cold. Since there is no metaphysical substance called 'matter' apart from the observable objective states, the primary forms of matter would be the states of matter themselves manifested under the impact of temperature changes.

Weter when cooled would eventually become frozen and solid. If the frozen ice is heated, it turns into water and the water if heated, boils and turns into steam or a gaseous state. All elements or forms of matter subjected to changes of temperature are to be found in the solid, liquid or gaseous states. Until the third decade of the twentieth century, physicists concerned themselves only with these three states of matter. But it was realised that with the further application of heat to matter in the gaseous state a further state of matter can be brought into being. This is today

called the plasma state. If very great heat is applied to steam the movement of the water molecules becomes so violent that they start smashing themselves into electrically charged ions. This ionisation is the passage to the fourth state of matter or plasma described as a "swarming mass of hot eleetrically charged particles". The blazing mass of the sun is considered to be in this plasma state.

The conception of matter as what undergoes changes of state under the impact of temperature is therefore logically and empirically sound. Although there is no mention of the plasma state as such in the Buddhist texts, the primary forms of matter are held to be the solid (paṭhavī), the liquid (āpo), the gaseous (vāyo) and the fiery (tejo) such as lightning.

We can make use of these notions to classify the material of the body as well as the external world. There are solid states of matter in our own body such as the teeth, the nails, the hair, the flesh etc. The blood, sweat, tears, bile, pus etc. would be in a liquid state. The air we breathe in inhaling and exhaling, the wind in the abdomen etc. would be in a gaseous state, the heat in the body which transmutes food and drink in digestion comes under the fiery state of matter.

while in a general sense the four states are referred to in the above manner, it was observed that the specific characteristic of each state was to be found in some degree in the other states. Thus the specific characteristic of what is solid is *extension*. It is solid in the

sense that it extends or spreads out (pattharatīti paṭhavi). The characteristic of the liquid state is that of *cohesiveness* (bandhanatta, saṁgaha), while that of the gaseous state is vibration or *mobility* (samudīraṇa, chambhitatta. thambhitatta). The fiery state is said to havo the characteristic of causing changes of temperature or *maturation* (paripīcana).

These characteistics, it is argued, are not exclusive characteristics of the different states of matter but are their most prominent characteristics. As general characteristics they are to be found in all the states of matter. What is solid is most obviously extended but liquids, gases and fires do not lack extension, or occupancy of space. Similary, the matter of what is solid has a certain degree of cohesiveness. It has also a certain degree of dynamism or mobility and has a certain temperature. Extension, cohesiveness, mobility and temperature are thus held to be inseparable but distinguishable characteristics of all material things right down to atoms.

Different kinds of material objects therefore all have these several characteristics in varying degrees. when it comes to atomic theory, Buddhism would have to say that, atoms differ from each other according to the presence of these characteristics in varying degrees.

Derivatives

The four characteristic qualities of extension, cohesiveness, mobility and temperature, which co-exist (aññamañña-sahajāta) are the four great material forces

or forms of energy. In a gross state the qualities of extension, mobility and temperature can be directly appreciated by the sense of touch but cohesiveness has to be inferred. When we put our hand in water, we can apprehend its resistance or extension, its pressure or mobility as well its temperature but its characteristic of cohesiveness eludes us and the most prominent characteristic of water has therefore to be inferred from observation.

All material things, whether organic or inorganic and certain material concepts like space are said to be dependent on or derived from these primary material forces. But the sense in which they are derived are different. In the case of 'space' the derivation is purely logical in the sense that ākāsa or vacuous space (not ether) is untouched by the four material forces and is in fact to be apprehended as the locus in which they are absent. In the case of jīvitendriya or life, however, it is derivation in the sense of being a by-product of the primary material forces. Other characteristics of matter such as weight, plasticity, wieldiness, growth, continuity, decay and impermanence are also by-products of the primary manifestations of energy.

Realism

The sense- organs as well as the objects of sense are also made up of them. The matter forming the sensitive parts of the eye (pasāda), which react to stimuli (sappaṭigha) is intimately bound up with our entire psycho-physical personality (attabhāva-pariyāpanna) and is again a by-product of the primary material forces.

The sense of sight, for example is defined in various ways: (1) It is itself invisible though reacting to stimuli but it is the means by which what is visible and impinges on the eye has been seen, is being seen, will be seen or would be seen; (2) it is the organ on which visible objects which are capable of stimulating it, have impinged, are impinging, will impinge or would impinge; (3) it is the organ which has been focussed, is being focussed, will be focussed or would be focussed on visible objects capable of stimulating it; (4) it is the organ on account of which visual impressions as well as ideas, feelings, conative and cognitive activities aroused by these impressions have arisen, are arising, will arise or would arise. The accounts given in some respects forestall and in other respects are not in conflict with the modern findings regarding the psychology or physiology of perception.

In some respects one feels that the modern accounts need to be re-examined in the light of observations made in these texts. For example, textbooks in modern psychology tell us that the primary tastes are the sweet, sour, salt and bitter. But the Dhammasangani, while mentioning the tastes sweet (sādu), sour (ambila), salt (lonika) and bitter (tittaka) also refer to other tastes such as the astringent (kasāva) and pungent (kaṭuka). Although what we identify as taste is partly due to what we appreciate through the skin senses at well as taste in the interior of the mouth and also partly to odour, it is a moot point as to whether the astringent taste (kahaṭa raha) is a by-product of these or is a separate taste altogether.

It is quite evident from the descriptions given of the objects of sense as well as the general theory of matter that original Buddhism upheld the reality of the physical world. What we apprehend through the senses by way of colours or shapes, sounds, smells, tastes etc. are all by-products of the four primary material forces, which exist in the objective physical world independently of our perceiving them.

The physical movements of our bodies (kāyaviññatti) and our verbal activity (vacīviññatti,, which are due to our volitional actions are also due to the operations of material factors, though they are concurrently occasioned and accompanied (citta-samutthāna, citta-sahabhū) by mental activity, It is also significant that none of the books of the Abhidhamma Piṭaka included in the Canon mentions the heart as the physical basis of mental activity. The Paṭṭhāna, while recounting the role of the organ of vision in generating visual cognition, makes specific mentions of "the physical basis of perceptual and conceptual activity" (yaṁ rūpaṁ nissāya manodhātu ca manovinnāṇadhātu ca vattati) and ignores the cardiac theory of the seat of mental activity, which was widely prevalent at this time.[5]

Physical and Social Invironment

While conscious mental activity has a physical basis, what we call a person's mind is also conditioned by the physical environment, according to Buddhist conceptions. The physical objects of the external world smong other factors stimulate the senses, generate mental activity, feed the mind and motivate one's behaviour. The mind

5, Anuruddha, Compendium of Philosophy; P. T. S. London, 1963, v. pp. 277—279.

continues to be conditioned by these impacts, which form part and parcel of one's accumulated mental experiences.

It is also the teaching of Buddhism that the economic and social environment also conditions our behaviour. In the Cakkavattisīhanāda Sutta, it is stated that the maldistribution of goods in society produces poverty. This eventually leads to the growth of crime and loss of faith in moral values which along with a sound economic basis, are necessary to sustain a well-ordered society. However, Buddhism does not teach a theory of physical or economic determinism, for despite the fact that man is conditioned by these factors, they do not totally determine his behaviour Man has an element of freedom, which when exercised with understanding makes it possible for him to change his own nature as well as his physical, economic and social environment for the good and happiness of himself as well as of society.

(From Facets of Buddhist Thought)

Point of Departure and praxis

Lius Mojica Sandoz

Marxism has lost part of its dialectical rigor. It has made a choice and posited one element of experience, economic exertion, above all others, and, what is worse, totality started to tower above the immediate and to lose concrete connections. This danger has been exposed :

> "The direct cult of totality, the mystification of totality as an immediacy, the negation of mediations and complex interconections with each other, can only produce a myth and, as Nazism has proved, a dangerous one at that".[1]

We have to be mindful of this circumstance at the moment of judging Marxian proxis both in theory and in practice.

Marxism considers totality as the foundation of the singular event. Totality is time-history. History is, basically, human strife to promote his material well being in this world, so beneath the more obvious cultural and political events there is always a specific stage of development of the means of production. Relations between men come into being through those means.

Some men own the means of production, while the great majority of human beings work for those few.

Humanity has moved from an oriental type of society to slavery, from there to the feudal system, and is now in a stage called capitalism. True history for man shall commence with the advent of socialism, when those who sell their working capacities as if they were commodities revolt against the owners of human work, that is, against capitalism.

Thus, society is divided into these two classes: the borgeoisie or capitalists, and the producers or proletariat. The revolution of the proletrariat will extinguish the class society, only then will there come the regeneration of man, the end of alienation, the culmination of history.

It is true that class eclipses the individual, but the relation cf the individual to society is not the same as that between the means of production and political ideologies, for example. Seve came out with another type of relation: juxtastructure.[2] (–Saha-jāta or Co-nascence, we would say in Abhidhamma—)

There is a relationship of circularity concerning the individual and his society, but it is society which always gains the upper hand in this relationship.[2]

"Human individuals create and sustain society and the typical products of society by entering into social relations with one another; and it is these social relations which are the subject matter of social science.[3]

Here Buddhism departs sharply from Marxian treatment of the human situation. We are not butterflies no monkeys, ours is a human society, and it owes ist

qualities to the structure of man considered as an organism, endowed with senses and mind, that exerts themself in a particular way regardless of the type of society and the development of the means of production. If, as Marx said, 'the first premise of all human history is the existence of living human individuals'',[4] "then this individual has to be the first object of attention not as having any metaphysical import, but in its concrete and complex appearance.

Merleau-ponty brands as ingenuous and hypocrite those scientific ideologies which deem the individual as a "moment of the world" disconsidering the structure of his sensibility.

The individual is not a mere biological foundation for society; we cannot make of society another metaphysical entity. There is not an essential and determinant link between economy and consciousness. This, without precluding mutual and decisive influences.

Marx and Engels, serious as they were, could not overlook this phenomenon:

"Marx and Engels repeatedly and emphatically pointed out this uneven development in the field of the history of ideologies. Engels illustrated this concept by noting that French philosophy in the eighteenth and German philosophy in the nineteenth century emerged in completely, or at least comparatively, backward nations; thus in philosophy these lands could exercise a leading role though econonomically backward in comparison to the countries surrounding them.'[5]

Nevertheless, they never succeeded in explaining how it is that, if the economic base is always determinant, the superstructure can act upon it, or how the ideologies could go ahead of economic events. Modern "marxian" regimes force things to fit into the classic moulds.

Buddhism seems to be much more attuned with what is really happening. Experience is determined and composed by a variety of elements in multiple combination, but each element does not always have the same place and intensity, so attention has to be directed to each moment of experience to see the contribution of each factor.

The Abhidhamma is an investigation and description of units of experience and its relations. It has been observed, however, that there are some factors—i. e. sense impression, perception volition—that are present in everyone of those units. The Abbhidamma texts repeat them in each unit. Why ? The answer is that the efficacy of each of them is not the same in each unit.

"Furthermore, even consecutive states of consciousness of the same type that is having the same mental factors, are not strictly identical. The very fact that they are conditioned by repetition (āseveña paccaya) means that certain factors are intensified by force of practice. But even this effect of repetition as habit is not stationary in any phase. After gradually reaching its peak, the effect will wear off, and certain factors, for example, "interest" (piti) will become weak."[6]

"The introduction of partly overlapping groups indicate the subtle and complicated structure of a moment of consciousness. It shows that a psychic unit is not "composed" of rigid parts, arranged, as it were, in juxtaposition like a mosaic but is rather a relational and correlational system of dynamic processes."[7]

Nor are the units alone caught in the present :

"The relational system of the functions within a single moment of consciousness extends not only to the future but also to the multiplicity of past states of consciousness which are its conditions. That is to say : mental factors, far from being self-contained units, are 'open' towards the past as well as the future, and, though meeting in one moment they are related to quite different 'layers' of those time periods. From that we can gauge the highly dynamic nature of the processes going on in a single moment of consciousness."[8]

Also, there is always the danger not only to freeze in time psychic units or historical stages, but to take the determinant factors as absolutes.

"Up to the present time it has been a regular occurrence in the history of physics, metaphysics and psychology (we can add history and social sciences) that when a whole has been successfuly dissolved by analysis, the resultant 'parts' themselves come again to be regarded as little 'Wholes'.... 'substantial bearers of their specific exclusive qualities."[9]

The fact that the economic base has had a role in a particular moment of history dose not forever assign it that place. Neither the economic element nor any ideology will maintain the same definition in the future and the same role in history. That is why Lukācs had the intuition that, as Marxism was so grounded in the capitalist stage it was destined to pass on and was not very well prepared for the interpretation of old civilizations. Much of what Engels said on this subject was mere nonsense. This could not but originate a stormy commotion in Marxist circles, and Lukācs wisely refrained from joining the controversy.[10]

All this leads us to the conclusion that radical reality is void (suñña). The Buddha had the supreme courage to preach; as he did, the acceptance of this fact, and take it as the basis on which to construct his ethics, phychology and social action.

Buddhism considers that the structure of human sensibility is such that it normally tends to a false interpretation of reality and to the formation of an apparently sujbective and autonomous substance. On the other hand, Marxism sees man as a (historical product.)[11] But why is it that we think of ourselves differently? Why is there in consciousness a predisposition to become a separate subject? Is this predisposition a historic datum, or is it essential to the human condition, as, for instance, our vision of the sun moving around is due to our position on earth?

It may be conceded that the content of mentality at any given time is of social origin; but this origin, dose

it not come from a society created by the torpidity or enlightment of human individuals? Reification, therefore, is not essentially a historical phenomenon but a permanent propensity.

Yet we cannot be so naive as to belief that this natural attitude dose not accumulate, that it is not affected in the course of time History certainly exists. The Buddha said:

'I am the result of my own deeds, heir to deeds; deeds are matrix; deeds are kin; deeds are foundation; whatever deed I do, whether good or bad, I shall become heir to it."[12]

What has been the result of the prevalence of torpidity in human history?

"Finally, there came a time when everything that men had considered as inalienable became an object of exchange, of traffic and could be alienated. This is the time when the very things which till then had been communicated, but never exchanged; given, but never sold; acquired, but never bought- virtue, love, conviction, knowledge, conscience, etc.—when everything, in short, passed into commerce. It is the time of general corruption, of universal venality, or to speak in terms of political economy, the time when everything, moral or physical, having became a marketable value, is brought to the market to be assessed at its truest value."[13]

Not only have there been social and moral transformations, but the very development of knowledge has been

encumbered Judith Willer has presented the subject boldy :

"The central problems of mordern civilization, the destructive potential of modern warfare, the threat to survival as a consequence of environment pollution, the institutionalization of poverty and racism, the concentration of power and the associated suppression of dissent have resulted in a remarkable increase in mysticism which previously had little impact on Western civilization. Mysticism offers escape, either with or without the use of drugs—an escape which attenuated religion is less able to provide. But the escape of the mystic is individual and cannot solve the problems from which he removes himself. The source of these problems and their solution, the very survival of the species, is not related to the concerns of a mystical system of knowledge.

Thus, in contrast to empiricism, science is always revolutionary in its implications and may initiate changes because of the necessity contained in its rationalism. On the other hand, science has been under the control of nonscientific systems of knowledge throughout its history. In the United States science has been successfully controlled by the empiricist power of politicians and propertied classes and has been primarily directcd toward empiricist ends, in spite of its own implications. This may partially explain the concentrations of scientific development in physical knowlege while

the social seiences remain at an empiricist prescie-tific level. Scientific power remains separate from social action".[14]

The prevalence of the natural attitude has created modern society, and this society is so dense and overri-ding that it constitutes a formidable reinforcement to the same attitude that is at its source. It is imposibie at this time to preach real individual salvation without, at least, including in the exhortations a critical analysis of the social context. Mounier used to say : '*La Revolution morale sera economique ou ne sera pas. La Revolution economique sera morale ou ne sera rien.*"

"The result everywhere is passivity and isolation in face of a word that is only seen in fragments ; a world that appears fundamentally unchan-geable."[15]

The moral and spirtual repercussions of the economic structure is every time recognized more openly. Vanek, an economist, says :

"From here, we can go to some less conspi-cuous and only rarely recognized manifestations of the capitalist disequilibrium. One does not need to be trained in psychology to recognize a certain quality that we may call the "integrality" of the human person. This implies that in a normal human being his experiences, emotions, and general existence in one part of his life cannot be seprated from, and will influence what happens in, the other parts of his life. If a man

spends forty hours a week, and those the most alert and active hours of his life, in a work environment which is basically one of conflict (we recognize that normally there is no conflict with his fellow employees, but note that if there were, the case we would be discussing would be that of a hell, and not merely a social disequilibrium then this conflict will spill over to influence the rest of his life and his general disposition. That man's life will thereby be less balanced and less happy."[16]

We may suggest that the attitude of the mystic is not fundamentally different from that of the employee or worker. He conceives himself alone disconected, and feels himself immersed in a strange world, a hostile field where he must fight for the preservation of his integrity and development; a field peopled by others who feel themselves involved in the same predicament.

Praxis in Marxism means the radical change of the economic pattern. Individuals will necessarily improve their live with the ensuing social modifications. Thus, it did not seem immediately indispensable for Marxists to entertain considerations about ethics, and psychology: the latter was not known yet as a science,[17] and ethics sounded feudal and obsolete, a system triumphantly eradicated by the burgeoisie despite its high values.

But experience has told another story. The economic structure has been changed drastrically by force. Not withstanding, people continue to believe in their per-

man nt egos and act accordingly. The only way to preserve the order seems to be by repression and odious propaganda. There is an immense gap between the social economic context and the inner condition of the individual consciousness. Mental tendencies and ideologies do not obey economic changes; censure is everywhere established, and the economist dogma is saved.

Modern Marxist are not to much to blame. Marxism has had this predicament from its very beginnig. Sooner or later it will be undestood that something more is needed than exterior social reforms.

Buddhism, on the other hand, was complete from its very inception, but it has been narrowed in scope with time, and even transformed into a crude mysticism in, for example, some Mahayana tends.

Marxima spires to the popularization of the dialectical method in order to diminish and finally eradicate the illusion of solid and autonomous entities erected by capitalism and establish instead a critical philosophy :

" a theory of theory and a consciousness of consciousness."[18]

The proletariat, as a class, is determined by history to solve the contradictions inherent in human society up to now. So we are still in the pre-historical phase of human society. Real history for man will commence when the proletariat overthorows the burgeoisie and implants the classless society. Only the exploited have the capacity to see social processes as a totality. But this

true eonsciousness is not a quality that grows in each individual worker, it is hiden in their histoiial essence, and only the Party can define and articulate its content :

"The form taken by the class consciousness of proletartiat is the Party.[19]

This class consciousness would appeared to the Buddists as something very like the Brahman of the Hindus. We have seen that the point of departure for Buddhism is the dynamic structure of human psycho-physical organism. It submitted that necessarily, any method that leaves out the analysis of that structure and development of a praxis in accordance with that structure, is doomed to failure.

History will not surpass the human organism, in whose unexamined experience appropriation has a fundamental place :

"It is of great practical importance to see that mine' is the most fundamental of these three notions 'mine'. 'I' and 'self'. The puthujjana's (natural attitude) constant thinking is a thinking that something is his. In fact there is nothing more fundamental than this about his experience. And he must seek to understand this state of affairs in his own experience itself. The notions 'I' and 'self' do not take the same structure as the notion 'mine'. When he, the puthujjana, is conscious of it as his feeling, he is always conscious of it as his feeling. It is this consideration 'mine' that leads the puthujjana on.[20]

One thing is the individual as seen by science and another is the individual as he is naturally inclined to conceive himself. With this solemn truth starts one of the Suttas collections (Mulapariyāyasutt) : it is at the root of human experience. This existencial situation of man must be counted with in any appreciation of the human condition. Here the Buddha's compassion reveals its place.

That ((non-scientific)) way in which the individual ((sees himself)) produces his behaviour and those of others in society : therefrom emerges a general Karma, historic and accumulative. So, we can posit, as an apriori postulate, that any praxis set up on an ((objective)) view of man must entail repression. The sense of subjectivity, or substance, cannot be placed *by the bye* just by its theoric invalidation. We have to develop an adequate knowledge and praxis. Buddha did just that.

Even though contemporary Buddhism has forgotten much of the social aspect explicit in the original Dhamm, it has been established that modern Buddhist cultures do not favour stimulate the creation of capitalist institutions:

> "Cultural value was found to determine economic value in the Buddhist context also. But he (Max Weber) found that the nature of the consequences, in terms of the kind of economy which was produced, was exactly the reverse of the encouragement of capitalism which was the consequence of the Protestant ethics."[21]

If the end of the revolution is the reunion of object and subject, which is tha true aspiration of classic Western philosophy, as Lukācs thought, you cannot start affirming that the proletariat is the real subject of social change; whenever the party convinces itself of that and succeeds in convincing others, we have seen the emergence of a State stronger than any other in History, a State that will not submit to the community.[22] We have seen the same old superimposition badly concealed by partial reforms and representations. Lukācs' dream does not come true :

> ...."it is the proletariat that embodies this process of consciousness Since its consciousness appears as the immanent product of the historical dialectic, it likewise appears to be dialectical. That is to say, this consciousness is nothing but the expression of historical necessity. The proletariat 'has no ideals to realize'. When its consciousness is put into practice it can only breathe life into the things which the dialectics of history have forced to a crisis; it can never 'in practice' ignore the course of history, forcing on it what are no more that its own desires or knowledge."[23]

The class concept, the belife in class determination, blind faith in the party, lack of psychology and ethics, have made Marxin praxis to appear, and often really to be, a most obnoxious thing. Until Marxists work out something like Buddhism, they will keep circling around tied to a chain of hopes and deceptions.[24]

(From Buddhism and Marxism: Common Themes)

---

1. See/Meszāros, Lukācs Conduct of Dialectic, London 1972 P. 63.
2. Marxisme ... op-cit P-148.
3. Maurice cornforth, Historical Materialism, New York 1972, P.15. See also, E. V. Illienkov, Dialectic logic, Moscow, 1977 P.48
4. See Cornforth, op. cit p.15.
5. Lukācs- writer ,,,, op.cit p.67.
6 Nyanapanika, Abhidhamma .. op. cit p.40-41
7. Ibid, p.38.
8. Ibid, P.39.
9. Ibid, p.41.
10. See Arato, Young Lukācs, op-cit. p.176-179-80
11. Śeve, Marxisme ... oP. cit. p.94.
12. A N, III, VI 7
13. Marx overty......op. p. 34
14. The Social determination of knowledge, Prentic-Hall New Jersey, 1971 p. 134-38.
15. Arato, Young Lukācs, op. cit. p.119.
16. See Jaroslav Vanele, The participatary Economy cornel University press 1971, p.107.
17. See Seve, Marxisme... op. cit. p.137-8.
18. Lukācs, History ...... op. cit. p.47.
19. Ibid, P. 41.
20. S. Wettimuny, The Buddhist's Teaching, Colombo Sri Lanka 1969. p.49,

21. Trevor Ling, Buddhist Revival in India, London 1980, p. 96.

22. See Bottomore, op. cit. p.49.

23. History.........op. cit. p. 177-8.

24. See Arato, Young Lukācs, op. cit, Last chapter.